२

महाराजश्री

रामकिंकर जी

नवधा भक्ति

(द्वितीय भाग)

भाष्यकार
पूज्य श्री रामकिंकरजी महाराज

प्रकाशक
रामायणम् ट्रस्ट
परिक्रमा मार्ग, जानकीघाट,
श्रीधाम अयोध्या-२२४१२३

प्रवचन स्थल : नई दिल्ली

द्वितीय संस्करण
संवत् २०६३, गुरु पूर्णिमा, ११ जुलाई २००६

सत्साहित्य हेतु
सहयोग राशि : रु. ८०.००

प्रकाशक
रामायणम् ट्रस्ट
परिक्रमा मार्ग, जानकीघाट,
श्रीधाम अयोध्या-२२४१२३
दूरभाष : ०५२७८-२३२१५२

मुद्रक
रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली, फोन : ०११-२२८२११७४

॥श्रीरामः शरणं मम॥
॥श्री गुरवे नमः॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव

बैकुण्ठवासी पूज्य मातुश्री एवं परमपूज्य पिताजी
की पावन स्मृति में

परमपूज्य शरणागतवत्सल गुरुदेव श्रीरामकिंकरजी महाराज
के चरणों में साष्टांग प्रणाम सहित समर्पित

सेवक
गौरीशंकर झा
जबलपुर

॥श्रीरामः शरणं मम॥

प्राक्कथन

गत ३१ वर्षों से परम पूज्य पण्डित रामकिंकरजी की नवदिवसीय कथा-शृंखला यहाँ दिल्ली के लक्ष्मीनारायण मन्दिर के पृष्ठ भाग की वाटिका में अनवरत रूप से चलती रही। भक्ति और ज्ञान के दिव्य निर्मल जल से पण्डितजी प्रतिदिन सबका हृदय-सरोवर भरते रहे। **'निज मन मुकुर सुधारि'** की भैरवी उनके प्रत्येक प्रवचन में सुनाई पड़ती थी। अपनी अमृतवाणी से, मौलिक विवेचन से, बोधगम्य विश्लेषण और रसपूर्ण व्याख्याओं के माध्यम से वह श्रोताओं को भगवान् राम की आदर्श-भावभूमि में तत्काल प्रवेश करा देते थे। उनके प्रवचन से हम सबको अपार आनन्द की तृप्ति होती थी और अगले दिन तीव्र सुधा के साथ पुनः उनकी वाणी को तन्मयता से सुनने अधिकाधिक श्रोतागण मगन रहते। उनके शब्दार्थ जितने विचारोत्तेजक होते, उनके भावार्थ भी उतने ही गूढ़ और सार्वकालिक। कथा की पौराणिकता को वर्तमान की यथार्थता से जोड़ने की उनकी सहजता श्रोताओं को गद्‌गद कर देती थी।

रामचरित के जो घूँट पण्डितजी पिलाते रहे वैसे स्वादिष्ट घूँट केवल उनके मानस-घट से ही प्राप्त होते थे। श्रोता समुदाय अपने को आत्मविभोर अनुभव करते और भाव धरातल पर स्वयं को मानस-पात्रों के समीप पाते। भगवान् राम के आध्यात्मिक, दार्शनिक और व्यावहारिक लीला-चरित्र का आचमन कराने वाले, राम के धाम का सही और स्थायी पता बताने वाले, युग-तुलसी रामकिंकरजी ६ अगस्त, २००२ को राम के धाम में समा गये हैं और 'रामायणम् आश्रम' अयोध्या में समाधिस्थ हैं। इस प्रकार राम के किंकर पण्डितजी साकेतवासी बन चुके हैं। वस्तुतः मानस के राजहंस ने मानस की अतल गहराई में निवास कर लिया है।

किन्तु, आज पूज्य पण्डितजी के बिना यह पावन प्रांगण सूना लगता है और साथ-ही-साथ यह प्रांगण उनकी स्मृति में डूबा हुआ भी लगता है। उनके विलक्षण आत्मचिन्तन से अभिभूत और चमत्कृत लगता है। लौकिक नाते तो लगता है कि पण्डितजी हमारे लिये एक अपार अभाव की सृष्टि कर गये हैं पर अलौकिक दृष्टि से दूसरे ही क्षण मन कहने लगता है कि वह हम सबको, वह सब कुछ दे गये हैं जो देना चाहते थे। वह सब कुछ कह गये हैं जो कहना चाहते थे। और वह सब कुछ लिख गये हैं जो लिखना चाहते थे। वह इतनी और ऐसी अपार महिमामयी सम्पत्ति छोड़ गये हैं कि 'हम उसको जितना बाँटेंगे वह उतनी ही बढ़ जाएगी।' एक सन्त की भाँति पण्डितजी अपनी वाणी से इतनी वर्षा कर गये हैं कि उनको सुनकर-समझकर हम हर बार स्वयं को सम्पूर्ण रूप से भरा-पूरा पाएँगे।

संगीत कला मन्दिर, कोलकाता के तत्त्वावधान में हमारे अनुरोध पर सन् १९५९ में पूज्य पण्डितजी का प्रवचन प्रारम्भ हुआ था। कालान्तर में 'बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर' के लिये यह बड़े गौरव की बात हुई कि हमारे अनुरोध पर पण्डितजी ने सन् १९७२ से यहाँ दिल्ली में भी नवरात्र के पावन पर्व पर रामकथा का श्रीगणेश किया जो दिल्ली के सुधी श्रोताओं की श्रद्धानुभूति से निरन्तर उजागर होता रहा।

हम दोनों के लिये परम सौभाग्य की बात थी कि प्रतिवर्ष यहाँ प्रवचन प्रारम्भ करने के पूर्व बड़े आत्मीय भाव से पण्डितजी, हम दोनों का नाम, हमें यजमान बनाकर लिया करते थे और अपना आशीर्वाद दिया करते थे। आज इस प्रसंग के स्मरण मात्र से हमारे नेत्र सजल हो जाते हैं और कंठ अवरुद्ध। गत १३ अप्रैल से प्रवचन प्रारम्भ हो गया था किन्तु १६ अप्रैल को प्रभात की पूजन-प्रार्थना के पश्चात् अनायास गिर जाने से पण्डितजी घोर शारीरिक कष्ट का अनुभव करने लगे। ऐसी स्थिति में हम दोनों ने उनसे अनुरोध किया कि उनके स्वास्थ्य-हित की दृष्टि से यदि कुछ समय के लिये प्रवचन स्थगित कर दिया जाए तो कोई कठिनाई नहीं होगी। किन्तु कथा-क्रम से वंचित रहना पण्डितजी को असह्य था। सब दिल्लीवासी इसके साक्षी हैं कि शारीरिक पीड़ा होते हुए भी वह मंच तक व्हील चेयर में आते रहे और प्रवचन से हम सबको धन्य करते रहे। वास्तव में दिल्ली के इस नवदिवसीय आयोजन के प्रति उनके मन में बड़ा अनुराग था। पण्डितजी भक्ति को ही लोक संस्कार की पाठशाला का प्रथम पाठ मानते थे और सदा की भाँति 'नवधा भक्ति' पर प्रवचन करते हुए उन्होंने नवदिवसीय शृंखला को पूरा किया क्योंकि इस आयोजन में उनको एक अनुष्ठान की छवि प्रतीत होती थी।

आयोजन के अन्तिम दिन, हमारी सुपुत्री श्रीमती जयश्री मोहता ने अपने समापन-भाषण में पण्डितजी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए, आप सबके द्वारा किए गये हर्षोल्लास के बीच यह घोषणा कर दी कि पूज्य पण्डितजी ने कृपापूर्वक अगले वर्ष भी पुनः पधारने की स्वीकृति प्रदान कर दी है किन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। और, प्रवचन के स्थान पर आज पण्डितजी की अनुपस्थिति में हम उनका गुणगान कर रहे हैं। पण्डितजी के अनुसार भक्ति का तात्पर्य भगवान् में प्रविष्ट होने का अवसर पाना और प्रभु से एकाकार होना रहा है। वह शब्दों के अर्थों की नहीं, उनके भावार्थ की यात्रा कराते थे और उसे लोकार्थ तक पहुँचाते थे। उनका गुणगान भी किसी लोकार्थ से कम नहीं है।

'नवधा भक्ति' का विश्लेषण करते हुए उन्होंने **'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा'** पर प्रकाश डालते हुए **'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा'** का स्पर्श 'नवधा भक्ति के प्रथम भाग में किया था। प्रस्तुत पुस्तक 'नवधा भक्ति' भाग-२ है जिसमें इस कथा-स्थल पर पिछले वर्ष किए गये प्रवचनों का प्रकाशन किया गया है। राम नाम से आप्लावित पण्डित रामकिंकरजी महाराज की यह अन्तिम पुस्तिका 'नवधा भक्ति', जितनी मर्मस्पर्शी है उतनी ही हृदयस्पर्शी भी। पण्डितजी का साहित्य, ज्ञान का भण्डार ही नहीं लोक संस्कारों का दिव्य-द्वार भी है। पण्डितजी ने अपने प्रवचनों में उपमाओं का केवल आनन्द ही नहीं बाँटा, उनकी सात्त्विकता को सिद्ध करते हुए, पाठकगण को उसमें निमग्न रहने का अवसर भी प्रदान किया है।

दिल्ली के इस अनुष्ठान की प्रवचन-शृंखला के अन्तिम प्रकाशन का, आशा है विद्वजन् और प्रबुद्ध पाठक समान रूप से अभिनन्दन और स्वागत करेंगे।

''श्रीराम जय राम, जय जय राम''

बसन्त कुमार बिरला
सरला बिरला

॥श्रीरामः शरणं मम॥

महाराजश्री : एक परिचय

प्रभु की कृपा और प्रभु की वाणी का यदि कोई सार्थक पर्यायवाची शब्द ढूँढ़ा जाए, तो वह हैं–प्रज्ञापुरुष, भक्तितत्त्व द्रष्टा, सन्त प्रवर, 'परमपूज्य महाराजश्री रामकिंकर जी उपाध्याय।' अपनी अमृतमयी, धीर, गम्भीर-वाणी-माधुर्य द्वारा भक्ति रसाभिलाषी-चातकों को, जनसाधारण एवं बुद्धिजीवियों को, नानापुराण निगमागम षट्शास्त्र वेदों का दिव्य रसपान कराकर रससिक्त करते हुए, प्रतिपल निज व्यक्तित्व व चरित्र में श्रीरामचरितमानस के ब्रह्म राम की कृपामयी विभूति एवं दिव्यलीला का भावात्मक साक्षात्कार करानेवाले पूज्य महाराज श्री आधुनिक युग के परम तेजस्वी मनीषी, मानस के अद्‌भुत शिल्पकार, रामकथा के अद्वितीय अधिकारी व्याख्याकार हैं।

भक्त-हृदय, रामानुरागी पूज्य महाराजश्री ने अपने अनवरत अध्यवसाय से श्रीरामचरितमानस की मर्मस्पर्शी भावभागीरथी बहाकर अखिल विश्व को अनुप्राणित कर दिया है। आपने शास्त्रदर्शन, मानस के अध्ययन के लिये जो नवीन दृष्टि और दिशा प्रदान की है, वह इस युग की एक दुर्लभ अद्वितीय उपलब्धि है–

धेनवः सन्तु पन्थानः दोग्धा हुलसिनन्दनः।
दिव्यराम-कथा दुग्धं प्रस्तोता रामकिंकरः॥

जैसे पूज्य महाराजश्री का अनूठा भाव दर्शन वैसे ही उनका जीवन दर्शन अपने आप में एक सम्पूर्ण काव्य है। आपके नामकरण में ही श्री हनुमान्‌जी की प्रतिच्छाया दर्शित होती है। वैसे ही आपके जन्म की गाथा में ईश्वर कारण प्रकट होता है। आपका जन्म एक नवम्बर सन् १९२४

को जबलपुर (मध्यप्रदेश) में हुआ। आपके पूर्वज मिर्जापुर के बरैनी नामक गाँव के निवासी थे। आपकी माता परम भक्तिमती श्री धनेसरा देवी एवं पिता पूज्य पं. शिवनायक उपाध्यायजी रामायण के सुविज्ञ व्याख्याकार एवं हनुमान्‌जी महाराज के परम भक्त थे। ऐसी मान्यता है कि श्रीहनुमान्‌जी के प्रति उनके पूर्ण समर्पण एवं अविचल भक्तिभाव के कारण उनकी बढ़ती अवस्था में श्रीहनुमत्‌जयन्ती के ठीक सातवें दिन उन्हें एक विलक्षण प्रतिभायुक्त पुत्ररत्न की प्राप्ति दैवी कृपा से हुई। इसलिए उनका नाम 'रामकिंकर' अथवा राम का सेवक रखा गया।

जन्म से ही होनहार व प्रखर बुद्धि के आप स्वामी रहे हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा जबलपुर व काशी में हुई। स्वभाव से ही अत्यन्त संकोची एवं शान्त प्रकृति के बालक रामकिंकर अपनी अवस्था के बच्चों की अपेक्षा कुछ अधिक गम्भीर थे। एकान्तप्रिय, चिन्तनरत, विलक्षण प्रतिभावाले सरल बालक अपनी शाला में अध्यापकों के भी अत्यन्त प्रिय पात्र थे। बाल्यावस्था से ही आपकी मेधाशक्ति इतनी विकसित थी कि क्लिष्ट एवं गम्भीर लेखन, देश-विदेश का विशद साहित्य अल्पकालीन अध्ययन में ही आपके स्मृति पटल पर अमिट रूप से अंकित हो जाता था। प्रारम्भ से ही पृष्ठभूमि के रूप में माता एवं पिता के धार्मिक विचार एवं संस्कारों का प्रभाव आप पर पड़ा। परन्तु परम्परानुसार पिता के अनुगामी वक्ता बनने का न तो कोई संकल्प था, न कोई अभिरुचि।

पर कालान्तर में विद्यार्थी जीवन में पूज्य महाराजश्री के साथ एक ऐसी चामत्कारिक घटना हुई कि जिसके फलस्वरूप आपके जीवन ने एक नया मोड़ लिया। १८ वर्ष की अल्प अवस्था में जब पूज्य महाराजश्री अध्ययनरत थे, तब अपने कुलदेवता श्री हनुमान्‌जी महाराज का आपको अलौकिक स्वप्नदर्शन हुआ, जिसमें उन्होंने आपको वटवृक्ष के नीचे शुभासीन करके दिव्य तिलक का आशीर्वाद देकर कथा सुनाने का आदेश दिया। स्थूल रूप में इस समय आप बिलासपुर में अपने पूज्य पिता के साथ छुट्टियाँ मना रहे थे। यहाँ पिताश्री की कथा चल रही थी। ईश्वर संकल्पानुसार परिस्थिति भी अचानक कुछ ऐसी बन गयी कि अनायास ही, पूज्य महाराजश्री के श्रीमुख से भी पिताजी के स्थान पर कथा कहने का प्रस्ताव एकाएक निकल गया।

आपके द्वारा श्रोता समाज के सम्मुख यह प्रथम भाव प्रस्तुति थी। किन्तु कथन शैली व वैचारिक शृंखला कुछ ऐसी मनोहर बनी कि श्रोतासमाज विमुग्ध होकर, तन-मन व सुध-बुध खोकर उसमें अनायास ही बँध गया। आप तो रामरस की भावमाधुरी की बानगी बनाकर, वाणी का जादू कर मौन थे, किन्तु श्रोता समाज आनन्दमग्न होने पर भी अतृप्त था। इस प्रकार प्रथम प्रवचन से ही मानस प्रेमियों के अन्तर में गहरे पैठकर आपने अभिन्नता स्थापित कर ली।

ऐसा भी कहा जाता है कि २० वर्ष की अल्प अवस्था में आपने एक और स्वप्न देखा, जिसकी प्रेरणा से गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थों के प्रचार एवं उनकी खोजपूर्ण व्याख्या में ही अपना समस्त जीवन समर्पित कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया। यह बात अकाट्य है कि प्रभु की प्रेरणा और संकल्प से जिस कार्य का शुभारम्भ होता है, वह मानवीय स्तर से कुछ अलग ही गति-प्रगति वाला होता है। शैली की नवीनता व चिन्तनप्रधान विचारधारा के फलस्वरूप आप शीघ्र ही विशिष्टतः आध्यात्मिक जगत् में अत्यधिक लोकप्रिय हो गए।

ज्ञान-विज्ञान पथ में पूज्यपाद महाराजश्री की जितनी गहरी पैठ थी, उतना ही प्रबल पक्ष, भक्ति साधना का, उनके जीवन में दर्शित होता है। वैसे तो अपने संकोची स्वभाव के कारण उन्होंने अपने जीवन की दिव्य अनुभूतियों का रहस्योद्‌घाटन अपने श्रीमुख से बहुत आग्रह के बावजूद नहीं किया। पर कहीं-कहीं उनके जीवन के इस पक्ष की पुष्टि दूसरों के द्वारा जहाँ-तहाँ प्राप्त होती रही। उसी क्रम में उत्तराखण्ड की दिव्य भूमि ऋषिकेश में श्रीहनुमान्‌जी महाराज का प्रत्यक्ष साक्षात्कार, निष्काम भाव से किए गए, एक छोटे से अनुष्ठान के फलस्वरूप हुआ!! वैसे ही श्री चित्रकूट धाम की दिव्य भूमि में अनेकानेक अलौकिक घटनाएँ परम पूज्य महाराजश्री के साथ घटित हुई। जिनका वर्णन महाराजश्री के निकटस्थ भक्तों के द्वारा सुनने को मिला!! परमपूज्य महाराजश्री अपने स्वभाव के अनुकूल ही इस विषय में सदैव मौन रहे।

प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाभूमि वृन्दावन धाम के परमपूज्य महाराजश्री, ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज के आदेश पर आप वहाँ कथा सुनाने गए। वहाँ एक सप्ताह तक रहने का संकल्प था। पर यहाँ के भक्त एवं साधु-सन्त समाज में आप इतने लोकप्रिय हुए

कि उस तीर्थधाम ने आपको ग्यारह माह तक रोक लिया। उन्हीं दिनों में आपको वहाँ के महान् सन्त अवधूत श्रीउड़िया बाबाजी महाराज, भक्त शिरोमणि श्रीहरिबाबाजी महाराज, स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज को भी कथा सुनाने का सौभाग्य मिला। कहा जाता है कि अवधूत पूज्य श्रीउड़िया बाबा, इस होनहार बालक के श्रीमुख से निःसृत, विस्मित कर देने वाली वाणी से इतने अधिक प्रभावित थे कि वे यह मानते थे कि यह किसी पुरुषार्थ या प्रतिभा का परिणाम न होकर के शुद्ध भगवत्कृपा का प्रसाद है। उनके शब्दों में—"क्या तुम समझते हो, कि यह बालक बोल रहा है? इसके माध्यम से तो साक्षात् ईश्वरीय वाणी का अवतरण हुआ है।"

इसी बीच अवधूत श्रीउड़िया बाबा से संन्यास दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प आपके हृदय में उदित हुआ और परमपूज्य बाबा के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करने पर बाबा के द्वारा लोक एवं समाज के कल्याण हेतु शुद्ध संन्यास वृत्ति से जनमानस सेवा की आज्ञा मिली।

सन्त आदेशानुसार एवं ईश्वरीय संकल्पानुसार मानस प्रचार-प्रसार की सेवा दिन-प्रतिदिन चारों दिशाओं में व्यापक होती गई। उसी बीच काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपका सम्पर्क हुआ। काशी में प्रवचन चल रहा था। उस गोष्ठी में एक दिन भारतीय पुरातत्त्व और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् एवं चिन्तक श्री वासुदेव शरण अग्रवाल आपकी कथा सुनने के लिये आए और आपकी विलक्षण एवं नवीन चिन्तन शैली से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति श्री वेणीशंकर झा एवं रजिस्ट्रार श्री शिवनन्दनजी दर से Prodigious (विलक्षण प्रतिभायुक्त) प्रवक्ता के प्रवचन का आयोजन विश्वविद्यालय प्रांगण में रखने का आग्रह किया। आपकी विद्वत्ता इन विद्वानों के मनोमस्तिष्क को ऐसे उद्वेलित कर गयी कि आपको अगले वर्ष से 'विजिटिंग प्रोफेसर' के नाते काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किया गया। इसी प्रकार काशी में आपका अनेक सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैसे श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री महादेवी वर्मा से साक्षात्कार हुआ एवं शीर्षस्थ सन्तप्रवर का सान्निध्य प्राप्त हुआ।

अतः पूज्य महाराजश्री परम्परागत कथावाचक नहीं हैं, क्योंकि कथा उनका साध्य नहीं, साधन है। उनका उद्देश्य है भारतीय जीवन पद्धति की समग्र खोज अर्थात् भारतीय मानस का साक्षात्कार। उन्होंने अपने विवेक प्रदीप्त मस्तिष्क से, विशाल परिकल्पना से श्रीरामचरितमानस के अन्तर्रहस्यों का उद्घाटन किया है। आपने जो अभूतपूर्व एवं अनूठी दिव्य दृष्टि प्रदान की है, जो भक्ति-ज्ञान का विश्लेषण तथा समन्वय, शब्द ब्रह्म के माध्यम से विश्व के सम्मुख रखा है, उस प्रकाश स्तम्भ के दिग्दर्शन में आज सारे इष्ट मार्ग आलोकित हो रहे हैं! आपके अनुपम शास्त्रीय पाण्डित्य द्वारा, न केवल आस्तिकों का ही ज्ञानवर्धन होता है अपितु नयी पीढ़ी के शंकालु युवकों में भी धर्म और कर्म का भाव संचित हो जाता है। 'कीरति भनिति भूति भलि सोई'....के अनुरूप ही आपने ज्ञान की सुरसरि अपने उदार व्यक्तित्व से प्रबुद्ध और साधारण सभी प्रकार के लोगों में प्रवाहित करके 'बुध विश्राम' के साथ-साथ सकल जन रंजनी बनाने में आप यज्ञरत हैं। मानस सागर में बिखरे हुए विभिन्न रत्नों को सँजोकर आपने अनेक आभूषण रूपी ग्रन्थों की सृष्टि की है। मानस-मन्थन, मानस-चिन्तन, मानस-दर्पण, मानस-मुक्तावली, मानस-चरितावली जैसी आपकी अनेकानेक अमृतमयी अमर कृतियाँ हैं जो दिग्दिगन्तर तक प्रचलित रहेंगी। आज भी वह लाखों लोगों को रामकथा का अनुपम पीयूष वितरण कर रही हैं और भविष्य में भी अनुप्राणित एवं प्रेरित करती रहेंगी। तदुपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के भी आप अध्यक्ष रहे।

निष्कर्षतः आप अपने प्रवचन, लेखन और शिष्य परम्परा द्वारा जिस रामकथा पीयूष का मुक्तहस्त से वितरण कर रहे हैं, वह जन-जन के तप्त एवं शुष्क मानस में नवशक्ति का सिंचन कर रही है, शान्ति प्रदान कर समाज में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना जाग्रत् कर रही है।

अतः परमपूज्य महाराजश्री का स्वर उसी वंशी के समान है, जो 'स्वर सन्धान' कर सभी को मन्त्रमुग्ध कर देती है। वंशी में भगवान् का स्वर ही गूँजता है। उसका कोई अपना स्वर नहीं होता। परमपूज्य महाराजश्री भी एक ऐसी वंशी हैं, जिसमें भगवान् के स्वर का स्पन्दन होता है। साथ-साथ उनकी वाणी के तरकश से निकले, वे तीक्ष्ण विवेक के बाण अज्ञान-मोह-जन्य पीड़ित जीवों की भ्रान्तियों, दुर्वृत्तियों एवं दोषों का संहार करते हैं। यों आप श्रद्धा और भक्ति की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित करते हुए महान् लोक-कल्याणकारी कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

रामायणम् ट्रस्ट परम पूज्य महाराजश्री रामकिंकरजी द्वारा संस्थापित

एक ऐसी संस्था है जो तुलसी साहित्य और उसके महत् उद्देश्यों को समर्पित है। मेरा मानना है कि परम पूज्य महाराजश्री की लेखनी से ही तुलसीदासजी को पढ़ा जा सकता है और उन्हीं की वाणी से उन्हें सुना भी जा सकता है। महाराजश्री के साहित्य और चिन्तन को समझे बिना तुलसीदासजी के हृदय को समझ पाना असम्भव है।

रामायणम् आश्रम अयोध्या जहाँ महाराजश्री ने ६ अगस्त सन् २००२ को समाधि ली वहाँ पर अनेकों मत-मतान्तरों वाले लोग जब साहित्य प्राप्त करने आते हैं तो महाराजश्री के प्रति वे ऐसी भावनाएँ उड़ेलते हैं कि मन होता है कि महाराजश्री को इन्हीं की दृष्टि से देखना चाहिए। वे अपना सबकुछ न्यौछावर करना चाहते हैं उनके चिन्तन पर। महाराजश्री के चिन्तन ने रामचरितमानस के पूरे घटनाक्रम को और प्रत्येक पात्र की मानसिकता को जिस तरह से प्रस्तुत किया है उसको पढ़कर आपको ऐसा लगेगा कि आप उस युग के एक नागरिक हैं और वे घटनाएँ आपके जीवन का सत्य हैं।

हम उन सभी श्रेष्ठ वक्ताओं के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं तो महाराजश्री के चिन्तन को पढ़कर प्रवचन करते हैं और मंच से उनका नाम बोलकर उनकी भावनात्मक आरती उतारकर अपने बड़प्पन का परिचय देते हैं।

रामायणम् ट्रस्ट के सचिव श्री मैथिलीशरण शर्मा 'भाईजी' विगत २६ वर्षों से महाराजश्री की साहित्यिक सेवा का प्रमुख कार्य देख रहे हैं। इतने वर्षों से मैं यही देखती हूँ कि वे प्रतिदिन यही सोचते रहते हैं कि किस तरह महाराजश्री के विचार अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचें। साथ ही उनके सहयोगी डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी इस महत्कार्य को पूर्ण करने में अपना योगदान देते हैं, उनको भी मैं हार्दिक मंगलकामनाएँ एवं आशीर्वाद प्रदान करती हूँ। रामायणम् ट्रस्ट के सभी ट्रस्टीगण इस भावना से ओत-प्रोत हैं कि ट्रस्ट की सबसे प्रमुख सेवा यही होनी चाहिए कि वह एक स्वस्थ चिन्तन के प्रचार-प्रसार में जनता को दिशा एवं दृष्टि दे और ऐसा सन्तुलित चिन्तन पूज्य श्रीरामकिंकरजी महाराज में प्रकाशित होता और प्रकाशित करता दिखता है। सभी पाठकों के प्रति मेरी हार्दिक मंगलकामनाएँ!

प्रभु की शरण में
—मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी

क्रम

॥श्रीरामः शरणं मम॥

प्रथम प्रवचन

भगवान् श्रीरामभद्र और वात्सल्यमयी, करुणामयी माँ श्रीसीताजी की अनुकम्पा से इस वर्ष पुनः यह सुअवसर मिला है कि श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर के पवित्र प्रांगण में जिज्ञासु, श्रद्धालु एवं भावुक श्रोताओं के समक्ष श्रीरामचरितमानस की कुछ चर्चा की जा सके। यह आयोजन निसन्देह श्रीबसन्तकुमारजी बिरला और सौजन्यमयी श्रीमती सरलाजी बिरला की श्रद्धाभावना और इन पर प्रभु की कृपा का ही परिणाम है।

श्री जाजूजी ने, जो कवि, साहित्यकार, सुधी और बुध भी हैं, मेरी प्रशंसा में जो भावोद्गार प्रकट किए उसके विषय में मैं यही कहूँगा कि इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। प्रभु मेरे माध्यम से जो बातें कहला रहे हैं, यह निश्चित रूप से उनकी अनुकम्पा का ही फल है। अब इसमें यदि 'जन' से अधिक बुध को आनन्द आता है, तो यह बात 'मानस' में कही ही गयी है—

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं।
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं॥१/१३/८

अतः उनकी यह भावाभिव्यक्ति तो 'मानस' के सन्दर्भ से ही जुड़ी हुई है। और उन्होंने जो कुछ मेरे लिये, माध्यम के रूप में दिखाई देने वाले एक व्यक्ति के लिये कहा, वह उनकी स्नेह-भावना का परिचायक है। मैं इसके लिये उनका आभार प्रकट करता हूँ।

पिछले वर्ष नवधा भक्ति का जो प्रसंग प्रारम्भ किया गया था, इस वर्ष उसी क्रम को आगे बढ़ाने का प्रयास करते हैं।

भगवान् श्रीराम जब भक्तिमती शबरीजी के आश्रम में आते हैं तो

भावमयी शबरीजी उनका स्वागत करती हैं, उनके श्रीचरणों को पखारती हैं, उन्हें आसन पर बैठाती हैं और उन्हें रसभरे कन्द-मूल-फल लाकर अर्पित करती हैं। प्रभु बार-बार उन फलों के स्वाद की सराहना करते हुए आनन्दपूर्वक उनका आस्वादन करते हैं। इसके पश्चात् भगवान् राम शबरीजी के समक्ष नवधा भक्ति का स्वरूप प्रकट करते हुए उनसे कहते हैं कि–

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥३/३५
मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा।
निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा।
सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना।
मम भरोस हियँ हरष न दीना॥३/३५/१-५

शबरीजी! इन नौ प्रकार की भक्तियों में से जिस व्यक्ति के जीवन में एक भक्ति का भी अवतरण होता है वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

शबरीजी प्रभु की ओर जिज्ञासाभरी दृष्टि से देखती हैं–"प्रभु! आपने नवधा भक्ति का यह जो उपदेश दिया है, अब कृपा करके यह भी बताएँ कि इन नौ भक्तियों में से कौन-सी भक्ति मेरे लिये अधिक कल्याणकारी है?" तब प्रभु जो वाक्य कहते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि वे वचन-रचना में कितने कुशल हैं। और वस्तुतः वे उपदेश देने के बहाने शबरीजी की स्तुति कर रहे थे। प्रभु कहते हैं–"शबरीजी!

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥३/३५/६, ७

ये नौ की नौ समस्त भक्तियाँ आपके जीवन में विद्यमान् हैं।"

प्रभु यदि एक-एक भक्ति का वर्णन करने के साथ-साथ यह कहते कि आप सत्संगी हैं, आपकी कथा में रुचि है, आप गुरु की सेवा करने वाली हैं, तो इसे सुनकर शबरीजी को बड़ा संकोच होता। इसलिये प्रभु उपदेश देने के बहाने से ही शबरीजी की स्तुति करते हैं।

नवधा भक्ति के जो अनेक रूप और अंग बताए गये हैं, पिछले वर्ष उनके दो रूपों पर कुछ चर्चा की गयी थी, उसी क्रम में कुछ और रूपों पर विचार करने की चेष्टा करते हैं।

प्रभु सन्तों के संग को अपनी पहली भक्ति तथा कथा-प्रसंग में प्रेम को दूसरी भक्ति बताने के पश्चात् तीसरी भक्ति का स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं कि–

गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।

'शबरीजी! अभिमानशून्य होकर गुरुदेव के चरणों की सेवा करना, यह मेरी तीसरी भक्ति है।'

शबरीजी का जीवन तो गुरु-सेवा में ही बीता, अतः यह उपदेश ही नहीं, अन्य सब उपदेश भी शबरीजी के लिये नहीं, उनको निमित्त बनाकर हम सबके कल्याण के लिये ही कहे गये हैं। हम जितना इनके मर्म और रहस्यों को समझ लेंगे, जीवन में उतने ही परिवर्तन का अनुभव भी करेंगे।

गुरु की महिमा, परम्परया भी बहुत अधिक मानी जाती रही है। शास्त्रों में गुरु के सम्बन्ध में जो श्लोक आते हैं उनमें उनको ब्रह्मा, विष्णु और शिव का रूप दिया गया है। बहुधा लोग गुरु की स्तुति करते समय इन श्लोकों का पाठ करते हैं और उनके प्रति आदर-भाव प्रकट करते हैं।

परम्परया गुरु का आदर करना, उनकी स्तुति करना, पूजा करना ये सब ठीक है, लेकिन परम्परा कल्याणकारी तभी हो सकती है, जब उसके पीछे जो मर्म है, मूल भावना है उसे भी हृदयंगम किया जाय।

गोस्वामीजी की भी गुरुभक्ति बड़ी अद्‌भुत है। वे अनेकानेक रूपों

में अपने गुरुदेव की वन्दना और स्तुति करते हैं। वे बार-बार यह संकेत भी देते हैं कि उन्हें जो कुछ भी प्राप्त हुआ, वह गुरुकृपा का ही फल है।

रामचरितमानस में गुरु की महिमा का वर्णन तो किया ही गया है पर शिष्य में कैसी योग्यता और पात्रता होनी चाहिए इसकी ओर संकेत करते हुए गोस्वामीजी जिस शब्द का प्रयोग करते हैं वह बड़े महत्त्व का है। वे कहते हैं—

गुरु पद पंकज सेवा

गुरु की सेवा तो शिष्य को करनी चाहिए पर इसके साथ जुड़ा हुआ शब्द है—**'अमान'**। 'अमान होकर गुरु की सेवा करना' यही भक्ति है। इस 'अमान' शब्द के मर्म को जानना आवश्यक है।

'अमान' का अर्थ है अभिमानरहित होना। कई व्यक्तियों के विषय में बहुधा यह कहा-सुना जाता है कि वे अभिमान से भरे हुए हैं। इसका अर्थ है कि अभिमानी व्यक्ति अपने आपको पूर्ण और सर्वश्रेष्ठ मानता है। वह मानो एक ऐसा बर्तन है, पात्र है जो पूरा का पूरा अभिमान से भरा हुआ है। ऐसी स्थिति में यदि कोई अमृत बाँट रहा हो, सुस्वादु और कल्याणकारी वस्तु बाँट रहा हो, तो अभिमानी व्यक्ति उसे कैसे ग्रहण कर पाएगा? गुरु का उपदेश उसमें समाएगा कैसे? अतः अभिमान की भावना से मुक्त हुए बिना परम्परया गुरु की सेवा करना, यह तो प्रदर्शन मात्र है, भक्ति नहीं। और ऐसी सेवा का परिणाम कल्याणकारी नहीं हो सकता। 'मानस' में ऐसी गुरुभक्ति का दृष्टान्त लंकाधिपति रावण के रूप में हमारे सामने आता है।

रावण भगवान् शंकर का शिष्य है। उसने भगवान् शंकर की स्तुति में ताण्डव स्तोत्र की रचना की है जिसमें उसने बड़ी अद्भुत शब्दावली का उपयोग किया है तथा इसमें जो कामनाएँ प्रकट की गयी हैं वे बड़ी उदात्त हैं। रावण के विषय में यह वर्णन भी आता है कि भगवान् शंकर की पूजा में उसने अपने सिर काटकर चढ़ा दिए थे।

इसे पढ़-सुनकर कोई भी व्यक्ति आश्चर्यचकित हो जाय, यह स्वाभाविक है। क्योंकि साधारणतया विल्वपत्र, दूर्वा एवं पुष्प आदि अर्पित कर भगवान् शंकर की पूजा की जाती है। 'मानस' में रावण स्वयं इस घटना का बार-बार स्मरण दिलाता है। पर इसके पीछे रावण की गुरुभक्ति न होकर

केवल यह दिखाने की चेष्टा है कि वह भगवान् शंकर का कितना श्रेष्ठतम शिष्य है।

'मानस' में वर्णन आता है कि भुशुण्डिजी ने भी एक गुरु का वरण किया था। भुशुण्डिजी का जन्म अयोध्या में हुआ था, पर अकाल पड़ने पर वे उज्जैन आ गये। उज्जैन महाकाल की भूमि है। वहाँ महाकाल का मन्दिर है जहाँ जाकर अनेक श्रद्धालु उनका दर्शन करते हैं। मालवा की यह भूमि वैसे भी बड़ी उपजाऊ मानी जाती है।

भुशुण्डिजी ऐसी दिव्य भूमि में आते हैं और दीक्षा लेते हैं। पर जिस गुरु से उन्होंने दीक्षा ली, उनके नाम का वर्णन कहीं पर नहीं किया गया है। ऐसा भी वर्णन कहीं पर नहीं मिलता कि वे बड़े महान् थे। पर रावण के गुरु भगवान् शंकर तो श्रेष्ठतम गुरु हैं, त्रिभुवन गुरु हैं। गोस्वामीजी उनके लिये तो यही लिखते हैं कि—

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना।
आन जीव पाँवर का जाना॥१/११०/५

इस प्रकार एक ओर रावण त्रिभुवन गुरु का शिष्य है और दूसरी ओर भुशुण्डिजी एक ऐसे गुरु के शिष्य जिनका नाम तक ज्ञात नहीं है।

इसमें एक व्यंग्य है। कई लोग जब अपने गुरु का नाम बड़े गर्व से लेते हैं तो केवल यह बताने के लिये कि 'हम कितने महान् हैं कि ऐसे गुरु के शिष्य हैं!' वस्तुतः इसके द्वारा वे अपनी महिमा का ही विज्ञापन करना चाहते हैं।

भुशुण्डिजी के गुरुजी के नाम का उल्लेख भले ही कहीं न आता हो, पर भुशुण्डिजी गरुड़जी से उनके विषय में जो भावोद्गार व्यक्त करते हैं वह बड़ा मर्मस्पर्शी है।

गरुड़जी ने जब भुशुण्डिजी से पूछा कि 'अब तो आपके जीवन में परिपूर्णता आ गयी है, अतः आपको किसी दुःख की अनुभूति तो नहीं होती होगी?' भुशुण्डिजी ने कहा—"इतनी उच्च और कल्याणकारी स्थिति प्राप्त करने के बाद भी जब गुरुदेव के स्वभाव का स्मरण आता है तो—

एक सूल मोहि बिसर न काऊ।
गुर कर कोमल सील सुभाऊ॥७/१०६/२

मैं शोकमग्न हो जाता हूँ। गुरुदेव इतने शीलवान्, कोमल हृदय और उदार

स्वभाव के थे कि मेरे द्वारा उपेक्षा और अनादर किए जाने पर भी वे मेरे हित की ही बात सोचते रहे। यहाँ तक कि मेरी धृष्टता से भगवान् शंकर तक क्रोधित हो गये और मुझे शाप दे दिया। पर धन्य हैं गुरुदेव! जिन्होंने भगवान् शंकर की स्तुति की, उन्हें प्रसन्न किया और उस शाप को वरदान में परिवर्तित करा दिया। यदि मेरे गुरुदेव ने यह कृपा न की होती तो मेरा जीवन ऐसा नहीं होता जैसा आज दिखाई दे रहा है।''

इसका अर्थ है कि गुरुजी का नाम कितना बड़ा है, उनकी कितनी प्रसिद्धि है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। अनाम गुरु से भी व्यक्ति का कल्याण हो सकता है। पर अपनी महत्ता के प्रदर्शन के लिये विख्यात नामधारी गुरु की खोज करना या वरण करना अकल्याणकारी हो सकता है। शिष्य स्वयं को छोटा माने तभी कल्याण होगा और कहीं दोनों महान् हो गये तो झगड़ा हो जाएगा। इस सन्दर्भ में गुरु-शिष्य से जुड़ा एक प्रसिद्ध वर्णन आता है।

प्राचीन काल में विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ की परम्परा थी। जो विद्या में पारंगत होता था वह विद्वान् चुनौती देने के लिये देशभर में घूमता था। और जब वह सभी विद्वानों को परास्त कर वापस लौटता था तो भारत-विजेता के रूप में प्रशंसा पाता था।

काशी की बात है। एक प्रसिद्ध विद्वान् गुरु के एक बड़े प्रतिभाशाली शिष्य थे। शिष्य ने भारत-भ्रमण किया और शास्त्रार्थ कर समस्त विद्वानों को पराजित कर दिया। वे वापस लौटे और जब सबसे पहले अपने गुरुदेव के घर की ओर प्रस्थान करने लगे तो लोगों को लगा कि सचमुच, ये कितने बड़े गुरुभक्त हैं, सर्वप्रथम गुरुजी के पास जा रहे हैं! पर बाद में जब गुरु-शिष्य के बीच का संवाद सामने आया, तो पता चला कि इसके पीछे उनकी विनम्रता नहीं, उनका अभिमान और दम्भ ही कार्य कर रहा था।

विजयी शिष्य को सामने खड़ा देखकर गुरुजी गद्‌गद हो गये। शिष्य की उन्नति से गुरु को प्रसन्नता तो होती ही है। सहजभाव से गुरु ने कहा–''मैंने सुना है कि तुमने देशभर के सभी विद्वानों को शास्त्रार्थ में हरा दिया है।'' शिष्य ने कहा–''हाँ! मैंने और सबको तो हरा दिया है, बस एक आप ही बाकी रह गये हैं।''

यह विनम्रता और कृतज्ञता की नहीं, अभिमान की भाषा है। शिष्य ने यह नहीं कहा कि यह तो आपका आशीर्वाद है। उसके वाक्य का भाव तो यही था कि 'मैं यदि चाहूँ तो आपको भी हरा सकता हूँ, पर अपने आपको एक विनम्र शिष्य के रूप में प्रस्तुत करने के लिये ही मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ।' मानो शिष्य ही गुरु पर कृपा कर रहा है। रावण के जीवन में भी यही बात दिखाई देती है।

रावण से जब किसी ने पूछा कि तुमने कैलास पर्वत को ऊपर क्यों उठा लिया? तो रावण ने जो कहा उसमें भी अहंकार ही था।

तराजू पर तौलते समय देखा जाता है कि भारी पलड़ा नीचे रहता है और हल्का पलड़ा ऊपर चला जाता है। रावण ने बड़े साहित्यिक शब्दों का प्रयोग करते हुए यही कहा कि मैंने सारे संसार को अपनी भुजा के बल से तौल लिया। मेरी भुजा का बल ही भारी रहा और इस तरह मैंने सबको जीत लिया। संसार विजय के बाद मैं कैलास पर्वत पर भी गया। अब यदि मैं शंकरजी से कहता कि 'मैंने सबको हरा दिया, आपसे भी जरा दो हाथ हो जाय' तो यह अच्छा नहीं लगता। अतः मैंने सोचा कि क्यों न इनको ही कैलास पर्वत सहित ऊपर उठा लिया जाय, जिससे स्वतः सिद्ध हो जाएगा कि कौन हल्का है और भारी है? वस्तुतः रावण ने श्रद्धा से भगवान् शंकर को नहीं उठाया, अपितु वह तो अपनी भुजा के बल को ही तौल रहा था–

मनहुँ तौलि निज बाहुबल चला बहुत सुख पाइ।१/१७६

और यह दिखाना चाहता था कि उसकी तुलना में गुरुदेव भी हल्के ही सिद्ध होते हैं।

'गुरु' शब्द के अनेक अर्थ हैं। 'गुरु' का एक अर्थ होता है–'भारी'। इसका अभिप्राय है कि शिष्य अपने आपको लघु माने और गुरु को भारी अर्थात् श्रेष्ठ माने। पर रावण तो अपने आपको श्रेष्ठ और गुरु को तुच्छ सिद्ध करना चाहता है। ऐसा व्यक्ति गुरु के द्वारा कल्याण प्राप्त कर सके, यह सम्भव नहीं है।

'अमान' होकर गुरु की सेवा करने के पीछे यही संकेत है कि शिष्य अभिमान से मुक्त होकर, गुरुदेव से कहे कि 'महाराज! मैं तो एक ऐसा पात्र हूँ जो बिल्कुल खाली हूँ, आप कृपा करें और अपने उपदेश के द्वारा

इसे भर दें, मुझे पूर्णता प्रदान करें।'

गुरु की सेवा करते समय यदि शिष्य यह अनुभव करे कि 'मैं सेवा करके धन्य हो रहा हूँ' तो वह सही दिशा में बढ़ रहा है। पर यदि वह यह भाव रखे कि 'मैं ही गुरुदेव पर कृपा करके उन्हें धन्यता प्रदान कर रहा हूँ' तो यह उस शिष्य के लिये दुर्भाग्य की बात है। अभिमान पूर्ण इसी वृत्ति के कारण रावण स्वयं तपस्वी, निपुण योगाभ्यासी व बलवान् होते हुए और भगवान् शंकर जैसे विश्व के श्रेष्ठतम गुरु को पाकर भी कल्याण का अधिकारी नहीं बन पाता। रावण की पूजा-पद्धति भले ही लोगों को अद्भुत लगे पर उसकी सारी पूजा-अर्चना व्यर्थ चली जाती है।

भगवान् शंकर की पूजा करने के लिये लोग मिट्टी से उनकी मूर्ति बनाते हैं और उनका अभिषेक करते हैं। पार्थिवपूजन के साथ-साथ प्रस्तर से शिवलिंग बनाकर भी भगवान् शंकर की पूजा की जाती है। पर रावण पार्थिवविग्रह या प्रस्तरलिंग की पूजा नहीं करता। वह तो साक्षात् भगवान् शंकर की पूजा करता है।

रावण सोचता है कि जैसी पूजा साधारण लोग करते हैं, वैसी पूजा यदि मैं भी करूँ तो मेरी क्या विशेषता रह जाएगी? अतः रावण ने भगवान् शंकर से कहा कि आप जानते हैं कि मैं सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड का स्वामी हूँ। मैं यह चाहता तो हूँ कि आपकी पूजा करूँ, पर क्या करूँ? मेरे पास तो समय ही नहीं रहता। अतः आप ही स्वयं मेरे पास आकर अपनी पूजा करा लिया करें।

रावण चाहता है कि उसके यहाँ नित्य वेदपाठ हो। पर वह स्वयं पाठ न करके ब्रह्माजी से कहता है कि आप वेद के महान् ज्ञाता हैं। लोग आपकी प्रशंसा करते हैं, अतः मैं चाहता हूँ कि आप नित्य मेरे यहाँ आकर वेदपाठ किया करें।' गोस्वामीजी कवितावली रामायण में कहते हैं कि–

वेद पढ़ैं विधि, संभु सभीत पुजावन रावनसों नितु आवैं।

(कवितावली/७/२)

रावण के यहाँ प्रतिदिन ब्रह्माजी वेदपाठ किया करते थे और भगवान् शंकर अपनी पूजा लेने आते थे। रावण यह देखकर मन ही मन फूला नहीं समाता था और सोचता था कि ये मुझसे डरते हैं तभी तो यहाँ चले आते हैं। अब इसे रावण का सौभाग्य कहें या दुर्भाग्य? जिस शिष्य से

गुरु डरने लगे और शिष्य इससे अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करे, इससे बड़ा उसका दुर्भाग्य क्या हो सकता है?

इसका अर्थ है कि श्रेष्ठ गुरु धारण करने के बाद भी अनेकानेक लोगों को कोई लाभ नहीं होता। इसका एकमात्र कारण उनका अभिमान ही है। अभिमान से भरे होने के कारण ही गुरुकृपा और ज्ञान-उपदेश को ग्रहण करने के लिये जो पात्रता चाहिए वह उनके जीवन में नहीं आ पाती।

'मानस' में गुरु की भूमिका का अनेक रूपों में वर्णन किया गया है। इसे यद्यपि साधारण दृष्टि से पढ़ने में भी आनन्द-लाभ होता है पर अन्तरंग दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि इसमें कितना बड़ा तत्त्वज्ञान है! इसके लिये एक श्रेष्ठ प्रसंग है धनुर्भंग का।

महाराज जनक के पास भगवान् शंकर का एक धनुष है। महाराज जनक प्रतिज्ञा करते हैं कि 'जो इस धनुष को तोड़ देगा, मेरी कन्या उसका वरण करेगी।' अन्ततोगत्वा भगवान् राम के हाथों वह धनुष टूट जाता है।

भगवान् राम के युग में ही एक और भी राम विद्यमान् हैं जिनका नाम है परशुराम और जो भगवान् शंकर के शिष्य हैं। धनुष टूटने का समाचार सुनकर वे अत्यन्त रुष्ट हो जाते हैं। उनकी धारणा है कि धनुष तोड़ना उनके गुरुदेव का अपमान है। अतः वे क्रोधित होकर जनकजी की सभा में आते हैं। रावण भी मन्दोदरी से ऐसी ही बात कहता है और अपने वाक् चातुर्य से उसे चुप कराने की चेष्टा करता है।

मन्दोदरी ने रावण से जब यह कहा कि 'आप सीताजी को यदि पाना ही चाहते थे, तो उनके पाने का उचित मार्ग तो आपके लिये खुला हुआ था। क्योंकि जनकजी ने तो यही प्रतिज्ञा की थी कि 'जो शिवधनु को तोड़ देगा सीताजी उसका वरण करेंगी।' पर आप उस सभा में जाकर भी बिना धनुष तोड़े लौट क्यों आए? उस समय यदि आप उचित मार्ग से सीताजी को पा लेते तो आपकी प्रशंसा होती। अब आप उन्हें हर कर ले आए हैं जिससे आपकी आलोचना होती है।'

रावण पण्डित था। पाण्डित्य का चाहे जितना सदुपयोग हो, दुरुपयोग भी उतना ही हो सकता है। रावण ने तुरन्त एक चातुरी-भरा तर्क निकाला। उसने कहा–''मन्दोदरी! जरा सोचो तो! जिसने कैलास पर्वत को उठा लिया,

क्या वह धनुष को नहीं उठा सकता था?" गणित भी यही कहता है।

—"महाराज! तो फिर आपने उठाया क्यों नहीं?"

—"ऐसा केवल जनक के अविवेक के कारण हुआ। उसने घोषणा कर दी थी कि धनुष को केवल उठाना नहीं, तोड़ना भी होगा। उसकी यही प्रतिज्ञा मेरे लिये बाधक बन गयी। तुम जानती ही हो कि वह धनुष मेरे गुरुदेव का था। और मैं गुरुदेव की वस्तु को कैसे तोड़ सकता था? धनुष तोड़ने में मुझे क्या कठिनाई थी? मैंने तो श्रद्धा के कारण ही ऐसा नहीं किया।" रावण की यह अपनी व्याख्या है।

परशुरामजी भी धनुष-टूटने को अपने गुरुदेव के साथ जोड़कर देखते हैं और कहते हैं कि 'हमारे गुरुदेव का धनुष जिसने भी तोड़ा हो, वह अपराधी है। अतः एक श्रद्धालु शिष्य के नाते मेरा कर्तव्य है कि मैं उसे दण्ड दूँ।'

जनकजी की सभा में भगवान् राम परशुरामजी के सामने ही खड़े थे, पर उन्हें देखकर वे समझ नहीं पाए कि इसी राजकुमार ने धनुर्भंग किया है। भगवान् राम तो सहजता की प्रतिमूर्ति हैं, अतः तोड़ने के पहले और बाद, दोनों ही स्थितियों में उनमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। वे तो 'सम' हैं।

परशुरामजी ने एक विजेता की जिस रूप में कल्पना की थी, वैसा कोई लक्षण उन्हें भगवान् राम में नहीं दिखाई देता, अतः वे पहचान नहीं पाते कि धनुष तोड़ने वाला तो उनके सामने ही खड़ा है। इसीलिये उन्हें जनकजी से यह कहना पड़ता है कि 'मूर्ख जनक! बता, यह धनुष किसने तोड़ा है? अन्यथा जहाँ तक तुम्हारा राज्य है, मैं वहाँ तक की पृथ्वी को पलट दूँगा।'

भगवान् राम उस शैली में उत्तर नहीं देते जिसमें सामान्य योद्धा या विजेता देते हैं। कोई दूसरा व्यक्ति होता तो कह सकता था कि 'मैंने धनुष तोड़ दिया है, अब तुम्हें जो भी करना हो कर लो।' भगवान् राम भी इसी भाषा का प्रयोग कर सकते थे, पर उनकी भाषा-शैली तो सर्वथा भिन्न है।

भगवान् राम ने कहा—"महाराज! भगवान् शंकर का धनुष तोड़ने वाला उनका विरोधी हो, इसका तो प्रश्न ही नहीं है। आप शंकरजी के शिष्य हैं, भक्त हैं, वह तो आपका भी दास होगा—

नाथ संभुधनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥१/२७०/१

भगवान् राम में अभिमान की वृत्ति का लेश भी नहीं है। भगवान् शंकर के विरोध और अपमान की बात तो दूर रही, वे तो अपने आपको उनके दास के भी दास के रूप में देखते हैं। भगवान् राम जो उत्तर देते हैं, परशुरामजी, प्रारम्भ में उसके अन्तरंग अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाते। इसलिये प्रारम्भ में वे धनुर्भंग का जो अर्थ लेते हैं, वह भी सर्वथा भिन्न था।

धनुष के टूटने और न टूटने को लेकर दो पक्ष हमारे सामने आते हैं। जनकजी चाहते हैं कि धनुष टूटे पर परशुरामजी उसके टूटने से क्रोधित हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि वे धनुष के न टूटने के पक्ष में हैं। पर यह धनुष टूटा कैसे? और इसके टूटने के पीछे क्या संकेत है? इस पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

महाराज जनक धनुष तुड़वाने की प्रतिज्ञा करते हैं। भगवान् राम स्वयं को धनुष तोड़ने वाला नहीं मानते। पर धनुष तो टूटता ही है। जनकजी की प्रतिज्ञा और धनुष टूटने के इस पूरे क्रम पर विचार करने से गुरु की भूमिका का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञान के दो रूप हैं—सक्रिय ज्ञान और निष्क्रिय ज्ञान। ब्रह्म का जो स्वरूप है वह निष्क्रिय ज्ञान है और गुरु के रूप में जो ज्ञान है वह सक्रिय ज्ञान है। निष्क्रिय ज्ञान का अर्थ है कि उसमें राग-द्वेष, पक्षपात आदि कुछ भी नहीं है। 'मानस' में ब्रह्म का वर्णन इन्हीं शब्दों में किया गया है।

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥२/२१८/३

ब्रह्म का जो प्रकाशमय स्वरूप है वह निरपेक्ष और निष्क्रिय है। प्रकाश में बैठकर व्यक्ति क्या चर्चा कर रहा है, इससे उसे कुछ लेना-देना नहीं है। प्रकाश में चाहे भगवान् की चर्चा की जाय अथवा बुरी से बुरी भाषा का प्रयोग किया जाय, प्रकाश ज्यों का त्यों रहेगा, वह न तो बढ़ेगा और न ही घटेगा। इसी प्रकार ब्रह्म की स्थिति है। ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान् होते हुए भी विश्व की किसी घटना में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। भगवान् कृष्ण गीता में यही कहते हैं कि—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। गीता/६/२६

मैं सर्वत्र हूँ पर न तो मेरा किसी से द्वेष है और न ही किसी से राग है। ब्रह्म का जो ज्ञानमय स्वरूप है वह निष्क्रिय है।

वेदान्त की भाषा में कहा गया है कि ब्रह्म द्रष्टा है। वह होने वाली समस्त घटनाओं को केवल देखता भर है, न किसी का पक्ष लेता है और न ही कोई हस्तक्षेप करता है। समस्त प्राणियों में विद्यमान् होते हुए भी वह उदासीन रहता है।

ब्रह्म के इस स्वरूप का भी एक लाभ हो सकता है। व्यक्ति यह सोचकर कि 'ब्रह्म उसके प्रत्येक कार्य को देख रहा है और उसके अच्छे-बुरे कार्यों के ही अनुसार न्याय करेगा, फल देगा', बुरे और अनुचित कार्यों में प्रवृत्त होने से बच सकता है। ब्रह्म का यह ज्ञान व्यक्ति को सन्मार्ग की दिशा में ले जा सकता है। पर भक्ति-शास्त्र की दृष्टि इससे भिन्न है।

भक्त कहते हैं कि जब तक हम निष्क्रिय ब्रह्म को सक्रिय बनाने में सक्षम नहीं होंगे, तब तक हमारी समस्याओं का समाधान नहीं होगा। यद्यपि निर्गुण-निराकार ब्रह्म सर्वसमर्थ है, पर निष्क्रिय होने के कारण उसकी शक्ति का लाभ व्यक्ति नहीं ले पाता। अतः भक्त उसे निर्गुण-निराकार से सगुण साकार रूप में प्रकट करते हैं और उसे सक्रिय बनाकर अपनी इच्छा के अनुरूप चलने की प्रेरणा देते हैं। इसलिये भक्तों का ईश्वर अनेक रूप धारण कर भक्तों की इच्छा को पूर्ण करता है। 'मानस' में गोस्वामीजी भक्तों की इस भावना का वर्णन एक साहित्यिक पद्धति से करते हैं।

ब्रह्म के लिये एक शब्द आता है **'निरञ्जन'**–

व्यापक ब्रह्म निरञ्जन,

गोस्वामीजी कहते हैं कि कौसल्या अम्बा जब बालक राम का शृंगार करती हैं तो उस निरञ्जन ब्रह्म की आँखों में अञ्जन लगाती हैं। इस साहित्यिक उक्ति के पीछे एक बड़द्रष्टादर संकेत छिपा हुआ है।

नेत्र देखने के काम आते हैं। नेत्र में तीन रंग भी होते हैं–लाल, सफेद और काला। बिना अञ्जन का 'निरञ्जन ब्रह्म' भी संसार को देखता तो है और उसकी आँखों में भी सब रंग विद्यमान् हैं, पर उसके बाद भी उस पर संसार का कोई रंग नहीं चढ़ पाता, संसार की घटनाओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

माँ कौसल्या 'निरञ्जन' को 'अञ्जन' लगाकर मानो यह बताना

चाहती है कि 'यदि तुम निरञ्जनी आँखों से संसार को देखोगे तो यह संसार तुम्हें दिखाई ही नहीं देगा। और जब संसार ही नहीं दिखाई देगा तो उसमें जो समस्याएँ हैं वे भला कैसे दिखाई देंगी?'

साधारण व्यक्ति भी क्या इस बात का ध्यान रख पाता है कि 'एक नन्हा-सा मच्छर कब उसके कमरे में आया, कब चला गया या मर गया?' उसका ध्यान इस ओर जाता ही नहीं।

सामान्यतया लोगों की भगवान् से यही उलाहना रहती है कि 'महाराज! हम पर इतनी बड़ी विपत्ति आई है, पर आप ध्यान ही नहीं दे रहे हैं?' पर विचार करने से यह बात समझ में आ जाती है कि उन्हें दिखाई दे, तब न हमारी ओर ध्यान दें!

ब्रह्माण्ड का विस्तार अनन्त है और उसमें हमारी पृथ्वी कितनी छोटी प्रतीत होती होगी, यह बात समझना कठिन नहीं है। हमारे लिये कोई घटना भले ही बड़ी हो पर अनन्त में हमारे अस्तित्व का क्या महत्त्व है?

भक्त लोग भी भगवान् से यही कहते हैं कि 'प्रभु! आप अपनी ब्रह्म-दृष्टि से मत देखिए। अपितु हमारी भक्ति और प्रीति का अञ्जन लगाकर हमारी ओर देखिए। और तब यह संसार आपको कुछ और ही दिखाई देगा। तब आपको हमारी समस्याएँ दिखाई देंगी और आप अपनी करुणा से उन्हें दूर कर देंगे।'

वेदान्त का ब्रह्म विरागी है अतः उसमें संसार के प्रति कोई राग नहीं है। जनकजी की भी ख्याति वेदान्तनिष्ठ ज्ञानी के रूप में है। धनुषयज्ञ में जो दृश्य दिखाई देता है, इस दृष्टि से वह बड़े महत्त्व का है।

धनुष यज्ञ के मण्डप में अन्य सब राजाओं के साथ-साथ भगवान् राम भी विद्यमान् हैं। पर भगवान् राम पर जनकजी की प्रतिज्ञा का कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता। भगवान् राम उठकर धनुष को तोड़ क्यों नहीं देते?

भगवान् राम मानो जनकजी से कहना चाहते हैं कि 'तुम तो वेदान्ती हो, और इस दृष्टि से तुम्हें मुझसे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि मैं कुछ हस्तक्षेप करूँगा। मैं तो बस बैठकर देखता रहूँगा।'

आगे चलकर वर्णन आता है कि धनुष न टूटते देखकर सीताजी सहित जनकपुरवासी सभी नर-नारी दुःखी हो गये। यहाँ तक कि जनकजी की आँखों में भी आँसू आ गये। वे निराशा भरे स्वर में कहने लगे–

सुकृतु जाइ जौं पनु परिहरऊँ।
कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥१/२५१/५

'मैं क्या करूँ? धनुष न टूटने से तो मेरी कन्या कुआँरी रह जाएगी और प्रतिज्ञा त्यागने से अपयश होगा।' पर भगवान् राम बिना प्रभावित हुए उदासीन ही बने रहे। सचमुच ईश्वर बड़ा कौतुकी है।

जनकजी को मानो इस बात का गर्व रहा होगा कि मेरा मन तो सहज विरागी है। इसलिये भगवान् ने सोचा कि चलिए! आपकी थोड़ी परीक्षा लेकर देखते हैं कि कहीं इस वैराग्य में कोई राग तो नहीं छिपा हुआ है? और इसका परिणाम सामने आ गया। संसार और सुख-दुःख को मिथ्या मानने वाले वेदान्ती जनक रोने लगे।

जनकजी की बात सुनकर लक्ष्मणजी भी उत्तेजित हो जाते हैं और भगवान् की महिमा का गायन करते हैं। पर भगवान् राम समत्व में स्थित रहकर सब कुछ चुपचाप देखते रहते हैं।

अब यदि व्यक्ति ब्रह्म की समता और उदासीनता के सिद्धान्त को जानकर, उसका दुरुपयोग करने का यत्न करे, तो यह उचित नहीं है। बालि के जीवन में यह बात दिखाई देती है।

बालि प्रभु से तर्क करते हुए, यही कहता है कि 'आप तो सम हैं फिर आपने मुझमें और सुग्रीव में भेद क्यों किया? आपके लिये न तो कोई शत्रु है और न ही मित्र!' वस्तुतः ब्रह्म की दृष्टि में कोई भेद नहीं होता, पर व्यक्ति के कर्म के कारण कर्म के परिणाम में अन्तर आ जाता है। क्योंकि कर्मफल तो कर्म के अनुरूप ही प्राप्त होता है।

धनुष-यज्ञ में भगवान् राम सक्रिय कब हुए? इतना सब होने के बाद भी जब भगवान् राम बैठे ही रहे, तो गुरुदेव की भूमिका सामने आई। गुरुदेव ने भगवान् राम की ओर देखा और बोले—

उठहु राम भंजहु भवचापा।
मेटहु तात जनक परितापा॥१/२५३/६

'राम! मैं जानता हूँ कि वेदान्त का ब्रह्म बैठना ही जानता है, उठना नहीं जानता। पर अब तुम उठो! और जनकजी का परिताप मिटाने के लिये शिवधनु को तोड़ दो। क्योंकि मैं जानता हूँ कि सीताजी को पाने के लिये तुम्हें धनुष तोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है।' परशुरामजी भी

प्रारम्भ में इस सत्य को नहीं समझ पाते पर बाद में वे समझ जाते हैं। इसमें भी एक सुन्दर संकेत निहित है।

परशुरामजी में सात्त्विक अहंकार है। और अहं के शेष रहते ब्रह्म से एकत्व की स्थिति का अनुभव नहीं हो सकता। शिवधनु भी पवित्रतम अहंकार का एक स्वरूप है। सारे अहंकारों के समाप्त होने के बाद जो अहंकार शेष रहता है, वह शंकरजी का धनुष है। 'मानस' में भगवान् शंकर के लिये कहा गया है कि—

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान्।६/१५

वे समष्टि अहंकार के देवता हैं। अतः उनका धनुष भी अहंकार का ही प्रतीक है। अब अभिमान चाहे तामस हो, राजस हो या सात्त्विक हो तथा व्यष्टि से जुड़ा हो या समष्टि से, अन्ततोगत्वा उसका दूर होना, टूटना तो आवश्यक ही है।

परशुरामजी भगवान् शंकर के शिष्य हैं। पर वे समझ बैठे थे कि गुरुजी के धनुष का टूटना गुरुजी का अनादर है। और एक योग्य शिष्य के नाते उनका कर्तव्य है कि वह तोड़ने वाले को दण्ड दें।

भगवान् राम भी एक शिष्य हैं और जब गुरु विश्वामित्र ने आज्ञा दी तो वे धनुष तोड़ने के लिये प्रस्तुत हो गये। गोस्वामीजी कहते हैं कि—

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा।
हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥
ठाढ़ भए उठि सहज सुभाएँ।
ठवनि जुबा मृगराजु लजाएँ॥१/२५३/७,८

भगवान् राम उठे तो, पर उनमें न तो हर्ष है और न ही विषाद है। वे तो समत्व में स्थित होकर धनुष की ओर चले। एक शिष्य के रूप में भगवान् राम का जो स्वरूप यहाँ सामने आता है उसे समझकर बाद में परशुरामजी गद्‌गद हो जाते हैं।

भगवान् राम धनुष को उठाते हैं। यह भी तौलने की एक प्रक्रिया है। पर तराजू की विशेषता की परीक्षा केवल तौलने मात्र से ही नहीं हो जाती। तौलने से पूर्व तराजू के दोनों पलड़ों को सम होना चाहिए और तौलने के बाद भी। भगवान् राम तो धनुष तोड़ने से पूर्व और तोड़ने के बाद दोनों स्थितियों में सम हैं। उनमें हर्ष, बिषाद या अभिमान न पहले

है और न ही बाद में।

भगवान् राम और रावण दोनों ही तौलते हैं, पर रावण तौलने के बाद कहता है कि भगवान् शंकर हल्के हैं और मैं भारी हूँ। पर भगवान् राम गुरु को 'गुरु' (भारी) की ही दृष्टि से देखते हैं। और यही कहते हैं कि धनुष तो गुरुजी की कृपा से ही टूटा, मैं तोड़ने वाला नहीं हूँ। इसीलिये परशुरामजी ने जब यह पूछा कि 'वाणी से तो तुम विनम्र हो, पर धनुष तोड़ने के बाद तुम्हें अभिमान तो अवश्य ही हुआ होगा?'

भंजेहु चापु दापु बड़ बाढ़ा।१/२८२/६

इस पर भगवान् राम ने कहा कि 'बिलकुल नहीं! यदि मैंने धनुष तोड़ा होता, तब तो अभिमान आने की सम्भावना थी, पर जब मैंने तोड़ा ही नहीं, तो फिर अभिमान किस बात का?'

—"जब तुमने नहीं तोड़ा तो फिर धनुष टूट कैसे गया?" परशुरामजी ने पूछा।

भगवान् राम ने कहा—"गुरुदेव की आज्ञा पाकर मैंने सोचा धनुष के पास चलकर उसे देखना चाहिए। और उसे उठाने से पूर्व जब मैंने गुरुजी को प्रणाम किया—

गुरहिं प्रनामु मनहिं मन कीन्हा।१/२६०/५

तो उनकी कृपा से धनुष हल्का हो गया और मेरे हाथ लगते ही ऊपर उठ गया और अपने आप टूट गया—

अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा॥१/२६०/५

और जब—

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना।
मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥१/२८२/८

छूने भर से टूट गया तो इसमें अभिमान करने लायक बात कहाँ है?" भगवान् राम का यह वाक्य बड़ा सांकेतिक है।

भगवान् शंकर का धनुष अहंकार है। अब, यदि उसे तोड़ने के बाद तोड़ने वाला यह कहे कि मैंने अहंकार को तोड़ दिया, तो फिर अहंकार टूटा कहाँ? वह तो तोड़ने वाले के सिर पर सवार हो गया। जहाँ कर्तृत्व बचा हुआ है, 'मैंने किया' यह भाव शेष है, वहाँ अहंकार कहाँ मिटा? वह तो वहाँ पूरी तरह से विद्यमान् है।

भगवान् राम मानो बताना चाहते हैं कि अहंकार से रहित होकर, गुरु का आश्रय लेकर ही व्यक्ति परम कल्याण की प्राप्ति कर सकता है। परशुरामजी भी बाद में इस बात को समझ जाते हैं कि भगवान् राम ही ऐसे सच्चे गुरुभक्त हैं जिनमें अभिमान का लेश नहीं है।

भगवान् राम अपने चरित्र से गुरु की महिमा और गुरुता को प्रकट करते हैं। वे बताना चाहते हैं कि गुरु की कृपा के द्वारा ताड़का का वध हुआ, अहल्या का उद्धार हुआ और शिवजी का धनुष टूटा।

इसका तात्पर्य है कि गुरु ही ब्रह्म को निष्क्रिय से सक्रिय बनाते हैं। इस दृष्टि से प्रभु तीसरी भक्ति के रूप में 'अमान होकर गुरु सेवा' का जो उपदेश देते हैं, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

॥बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय॥

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

द्वितीय प्रवचन

गोस्वामीजी ने गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए गुरुतत्त्व का जो प्रतिपादन किया है, वह मात्र शास्त्रों का उद्धरण नहीं है अपितु गुरु के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसका सम्बन्ध स्वयं उनकी अनुभूति से है।

गोस्वामीजी की जीवनी पढ़ने वाले इस सत्य को जानते हैं कि उनकी बाल्यावस्था अत्यन्त कष्टों में व्यतीत हुई। एक निरीह और अनाथ बालक के रूप में वे द्वार-द्वार भटकते रहे। उनके माता-पिता ने जन्म लेते ही उनका त्याग कर दिया था। ऐसे अनाथ बालक तुलसी को पालने वाली एक दासी भी कुछ समय बाद मृत्यु का ग्रास बन गयी। गोस्वामीजी को अपनी क्षुधा शान्त करने के लिये भिक्षा माँगकर जीवनयापन करना पड़ा। इसका बड़ा करुण चित्रण गोस्वामीजी ने कवितावली, गीतावली आदि अपने कई ग्रन्थों में किया है। उस समय उनके अन्धकारमय जीवन में एक दिव्य ज्योति के रूप में उन्हें गुरुदेव की प्राप्ति हुई।

इन ज्योतिपुञ्ज, करुणामय गुरुदेव के नाम का स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं आता पर गोस्वामीजी के वन्दना-प्रसंग के इस पद—

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।

महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥१/०/५ सो.

के आधार पर माना जाता है कि उनके गुरु का नाम श्री नरहर्यानन्द था। गुरुदेव का नाम चाहे जो भी रहा हो, गोस्वामीजी के जीवन में जो भी परिवर्तन हुआ, वह गुरुदेव की कृपा से ही हुआ। गोस्वामीजी के मन में अपने गुरुदेव के प्रति अपार श्रद्धा-भावना थी। इसलिये उन्होंने 'मानस' में ऋषि-मुनियों व सन्तों आदि की जो वन्दना की है, उसमें सबसे अधिक

महत्त्व गुरु को ही दिया है।

गुरु के विषय में गोस्वामीजी कहते हैं कि—

गुरु बिन होइ कि ग्यान,

ज्ञान तो गुरु के द्वारा ही प्राप्त होता है। व्यक्ति को अन्तर और बाह्य दोनों ही जगत् के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। व्यक्ति के पास पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं जिनके द्वारा वह कर्म-सम्पादन करता है। उसके पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी हैं। कर्मेन्द्रियों के संचालन के लिये ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता है। यदि शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ न हों तो व्यक्ति कर्म का ठीक-ठीक निर्वहन नहीं कर सकता।

पैर एक कर्मेन्द्रिय है जिसके द्वारा हम चलते हैं। तथा नेत्र एक ज्ञानेन्द्रिय है जिसके माध्यम से हम बाह्य जगत् को देख पाते हैं। यद्यपि नेत्र ऊपर हैं और पाँव नीचे हैं, दोनों में एक दूरी भी है, पर सही ढंग से चलने के लिये दोनों में समन्वय की आवश्यकता है। चलने के लिये आँखों से जुड़े बिना यदि पैर चलते रहें, तो ऐसा कर्म एक व्यर्थ का परिश्रम मात्र ही रह जाएगा। इसी प्रकार से नाक, कान, जिह्वा और त्वचा आदि सभी ज्ञानेन्द्रियों का बड़ा महत्त्व है। इसीलिये ज्ञान की महिमा गाई जाती है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि जैसे बहिरंग जीवन में पंच ज्ञानेन्द्रियों का महत्त्व है, उसी प्रकार से आन्तरिक जीवन में भी ज्ञान की आवश्यकता है, जिसके बिना साधना सही अर्थों में सम्पन्न नहीं हो सकती।

ज्ञान की प्राप्ति का माध्यम क्या है? इसके लिये व्यक्ति जब सन्त, महात्मा या अध्यापक-गुरु के पास जाएगा तो वे वाणी के द्वारा इसका निरूपण करेंगे। गुरुदेव के मुख से जो वाणी निकले, व्यक्ति उसे कर्णेन्द्रिय के माध्यम से ठीक-ठीक ग्रहण कर उसका सही लाभ प्राप्त कर सकता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि मैंने जो कुछ प्राप्त किया उसके मूल में गुरुकृपा ही है। गोस्वामीजी गुरुदेव की वन्दना करते हुए एक महत्त्वपूर्ण संकेत देते हुए कहते हैं कि—

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।

महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥१/०/५ सो.

मोह रूपी घनीभूत अन्धकार को मिटाने के लिये गुरु के वचन सूर्य की किरणों की तरह हैं।

गोस्वामीजी इसमें बताना चाहते हैं कि मनुष्य की समस्या अज्ञान नहीं, अपितु उसका 'मोह' है। अज्ञान का अर्थ है—'न जानना', पर 'जानकर भी उसे उस रूप में न स्वीकार करना' मोह कहलाता है।

व्यक्ति जपता है, पर जानते हुए भी व्यवहार में उसके अनुरूप आचरण नहीं करता। यह भूल वह बार-बार दुहराते रहता है। महर्षि चरक ने इसे एक रोग के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यह प्रज्ञा-अपराध है। सत्य को जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करना, यह तो अपनी ही बुद्धि का अनादर है। दूसरों की बुद्धि की बात हम भले ही न सुनें, पर कम से कम अपनी बुद्धि की बात तो हमें सुननी ही चाहिए।

राक्षस कहे जाने वाले रावण, कुम्भकर्ण आदि भी ज्ञानवान् दिखाई देते हैं। हम लोग भी तो ज्ञानवान् ही दिखाई देते हैं। ज्ञान की बातें किसे याद नहीं हैं? बात-बात में गीता और रामायण से उद्धरण दुहराते बहुत से लोग मिल जाते हैं। पर जब वे व्यवहार करते हैं तो उससे प्रतिकूल आचरण करते दिखाई देते हैं। प्रश्न है कि यह मोह कैसे दूर हो?

गुरु की भूमिका का महत्त्व बताते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि गुरु के वचनों के द्वारा मोह का विनाश होना सम्भव है। मोह का विनाश होना कितना कठिन है इसका वर्णन रामचरितमानस में किया गया है। भगवान् राम स्वयं अपनी लीला में इसी सत्य को प्रकट करते हैं।

गोस्वामीजी कहते हैं कि रावण भले ही त्रेता युग में एक व्यक्ति के रूप में रहा हो, पर रावण का एक रूप और भी है और इस रूप में वह शाश्वत रूप से सर्वत्र विद्यमान् रहता है। गोस्वामीजी विनयपत्रिका में कहते हैं कि—

मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार पाकारिजित काम विश्रामहारी।

विनयपत्रिका-५८/४

रावण मोह है। और मोह तो अत्यन्त शक्तिशाली, विलक्षण एवं सर्वकालीन होता है। मोह के प्रतीक होने के कारण ही रावण का विनाश अत्यन्त कठिन दिखाई देता है।

'मानस' में यह वर्णन आता है कि लंका के युद्ध में कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि बड़े-बड़े योद्धाओं के मारे जाने के बाद ही रावण मारा गया और उसे मारने के लिये भगवान् राम को बहुत अधिक संघर्ष करना पड़ा।

यह युद्ध इतना भीषण था कि इसके लिये कहा गया है कि—

राम रावणोर्युद्धं रामरावणयोरिव।

इतिहास के किसी युद्ध से इसकी तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि यह युद्ध तो बस अपनी तरह का ही एक था।

पूछा जा सकता है कि 'ईश्वर को भी रावण को मारने में इतनी कठिनाई होती है क्या? वह तो सर्वसमर्थ कहा जाता है!' इसे इस रूप में न लेकर एक दूसरी दृष्टि से देख सकते हैं।

वस्तुतः भगवान् जो लीला कर रहे थे वह मनुष्य के रूप में कर रहे थे, ईश्वर के रूप में नहीं। ईश्वर के रूप में रावण को नष्ट करने के लिये उन्हें किसी युद्ध की आवश्यकता नहीं है। वे तो अपने संकल्प मात्र से ही उसे नष्ट कर सकते हैं। और गहराई से विचार करने पर यह बात भी सामने आ जाती है कि रावण का निर्माण भी तो ईश्वर के द्वारा ही हुआ है।

भगवान् अपनी लीला के द्वारा बताना चाहते हैं कि मोह को विनष्ट करने में जब मुझे (ईश्वर को) इतना श्रम करना पड़ता है, तो फिर किसी साधक के लिये यह कार्य कितना कठिन होगा? बुराइयों से लड़ना प्रारम्भ करने पर मेघनाद, कुम्भकर्ण के रूप में जो काम, अहंकार आदि अन्य बुराइयाँ हैं, उन सबके नष्ट होने के बाद ही सबसे अन्त में मोह का विनाश हो पाता है।

'मानस' में कहा गया है कि रावण से जब युद्ध होता है तो भगवान् राम भी थक जाते हैं—

मरत न रिपु श्रम भयउ बिसेषा।

रावण मर ही नहीं रहा है! क्यों नहीं मर रहा है? किसी व्यक्ति का सिर यदि काट दिया जाय, तो वह मर जाता है। पर विचित्र बात है कि सिर काटे जाने पर भी रावण की मृत्यु नहीं होती!

कथा प्रवचन में भी रावण का सिर कटता ही रहता है, पर बार-बार काटे जाने पर भी मोह नष्ट नहीं होता। बुद्धि से मोह का निकल पाना बड़ा कठिन है। भगवान् राम बताना चाहते हैं कि यद्यपि बुराइयों को हराकर उन पर विजय पाना सचमुच बड़ा कठिन है, पर साधकों को सतत उनसे संघर्ष करके उन्हें मिटाने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिए।

भगवान् राम श्रीसीताजी की खोज में यात्रा करते हैं। यद्यपि भगवान्

राम और श्रीसीताजी अभिन्न हैं, पर लीला में भिन्न बनकर प्रभु सीताजी की खोज में यात्रा करते हैं। मार्ग में वे लता-वृक्षों, पशु-पक्षियों तक से सीताजी का पता पूछते हुए चलते हैं। पर अन्त में उन्हें सीताजी को पाने का मार्ग शबरीजी के द्वारा प्राप्त होता है।

पढ़कर थोड़ा आश्चर्य होता है कि जिन शबरीजी ने सीताजी को पहले कभी नहीं देखा है, भगवान् राम उनसे सीताजी का पता पूछते हैं और शबरीजी उन्हें पाने का जो उपाय बताती हैं, उसका ही अनुसरण करते हैं। भगवान् राम शबरीजी को इतना अधिक महत्त्व देते हैं! इसमें एक विशेष संकेत निहित है।

सीताजी भक्तिरूपा हैं और भक्ति के द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है। पर आज तो भगवान् से मिलाने वाली भक्ति ही कहीं खो गयी हैं। पर सचमुच धन्य हैं शबरी! जो भक्ति को पुनः पाने का उपाय बताती हैं।

शबरीजी से जुड़ी हुई एक और भी महत्त्वपूर्ण बात सामने आती है। वनयात्रा में भगवान् राम अनेक ऋषि-मुनियों के आश्रम में जाते हैं, उनसे मिलते हैं और फिर विदा लेकर आगे चले जाते हैं। पर शबरीजी के आश्रम में ऐसा नहीं होता। शबरीजी और भगवान् राम के बीच विदा की बात नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं कि—

तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।
३/३५/छंद

शबरीजी योगाग्नि में शरीर को त्यागकर भगवान् में लीन हो जाती हैं। दिव्य योगमयी शबरीजी भगवान् से अलग नहीं होतीं, उनमें समा जाती हैं।

भगवान् राम शबरीजी को, जो एक वनवासिनी भीलनी नारी हैं, अप्रतिम सम्मान देते हैं। उनके विषय में ऐसा भी कहा गया है कि भगवान् राम ने उनके जूठे फल भी खाए थे। दुर्भाग्य की बात है कि कुछ लोग ऐसे प्रसंगों के सही संकेत और भाव को न ग्रहण कर एक व्यर्थ के विवाद में पड़ जाते हैं। 'भगवान् राम ने जूठे फल खाए या नहीं खाए?' बस इसी प्रश्न को लेकर झगड़ते रहते हैं। उनकी सारी चिन्ता इसी बात पर केन्द्रित हो जाती है कि 'जूठे फल खा लेने पर धर्म कहाँ रहेगा? और न खाने पर भक्ति कहाँ रहेगी?' ऐसे विवाद और झगड़े में श्रम का अपव्यय न करना ही श्रेष्ठ है।

भगवान् राम शबरीजी से वार्तालाप करते हुए पूछते हैं—"शबरीजी! मैं जनकनन्दनी सीता की खोज में हूँ, पर उनका पता नहीं चल पा रहा है।" इस प्रकार मानो भगवान् राम अपने आपको एक असमर्थ के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'मैं अपने प्रयत्न से नहीं खोज पा रहा हूँ, अब आप ही उपाय बता दें।'

जनक सुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कहु करिबरगामिनी॥३/३५/१०

शबरीजी का सीताजी से व्यावहारिक अर्थों में कोई परिचय ही नहीं है। सीताजी को शबरीजी ने देखा भी नहीं है। यद्यपि गीधराज से भगवान् राम को सीताजी का समाचार ज्ञात है, पर उन्हें पितृतुल्य सम्मान देने के बाद भी वे उनके वचनों को आधार बनाकर सीतान्वेषण में प्रवृत्त नहीं होते। वे तो भक्तिमती शबरीजी को ही, सीताजी को पाने के, माध्यम के रूप में चुनते हैं।

शबरीजी विनम्रता की प्रतिमूर्ति हैं। उन्होंने कहा—"प्रभु! आप तो सब कुछ जानते हैं, फिर भी जब आप पूछ रहे हैं तो इसे आदेश मानकर मैं बाध्य हूँ कि आपके प्रश्न का उत्तर दूँ! आप—

पंपा सरहि जाहु रघुराई।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥३/३५/११

पम्पासर की यात्रा करें, जहाँ पर सुग्रीव से आपकी मित्रता होगी और फिर आगे के सब कार्य उनके माध्यम से सम्पन्न होंगे।" भगवान् राम शबरीजी के द्वारा बताए गये मार्ग का अनुसरण करते हैं। वे पंपासर जाकर सुग्रीव से मित्रता करते हैं। और जब सुग्रीव के व्यवहार को देखकर लक्ष्मणजी को सन्देह होता है कि 'क्या सुग्रीव मित्रता के योग्य है?' तो प्रभु लक्ष्मणजी को याद दिला देते हैं—"लक्ष्मण! क्या तुम शबरीजी की बात भूल गये? उन्होंने क्या कहा था?—

तहँ होइहि सुग्रीव मिताई।

उन्होंने सुग्रीवजी का ही नाम लिया था, हनुमान्जी या किसी अन्य का नहीं। अतः मैं तो उनके आदेश का पालन करूँगा।"

इसका अर्थ है कि भक्ति की प्राप्ति के लिये हमारा कर्त्तव्य है कि हम किसी महापुरुष का आश्रय लें। अब यह आवश्यक नहीं कि वह पुरुष

ही हो, किसी विशेष वर्ण का हो, किसी उच्च जाति का हो, या नगर में रहता हो। जंगल में निवास करने वाली, शबर जाति की नारी को भगवान् राम मानो गुरु के समकक्ष सम्मान प्रदान कर बताना चाहते हैं कि 'गुरु' के अर्थ को केवल पारम्परिक दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। कल्याणकारी अभीष्ट की सिद्धि के लिये जो ज्ञान प्रदान करने वाला है, वह गुरु है।

शबरीजी परम योगमयी हैं। 'योग' का अर्थ केवल बाह्य शारीरिक अभ्यास न होकर 'प्रभु से मिलन' है। शबरीजी ने प्रभु को प्राप्त कर लिया है, समग्रता प्राप्त कर ली है। लोगों की दृष्टि में सीता-राम में वियोग और भिन्नता दिखाई देती है, पर धन्य हैं शबरी जो वियोग में भी संयोग को देख लेती हैं। वे प्रभु और सीताजी की अभिन्नता को जानती और देखती हैं, इसलिये सीताजी का पता वे सहजता से प्रभु को बता देती हैं। शबरीजी का भी प्रभु से वियोग नहीं है, नित्य योग है।

एक ओर जहाँ शबरीजी की भगवान् राम से जुड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है, दूसरी ओर लंका में श्रीसीताजी के साथ वैसी ही भूमिका में त्रिजटा जी दिखाई देती हैं। त्रिजटा भी एक नारी हैं, लंकानिवासिनी हैं और उनका जन्म राक्षस जाति में हुआ है। पर वे भी एक महान् सन्त हैं।

थोड़ा आश्चर्य होता है–'लंका में सन्त?' हनुमान्‌जी की भी प्रारम्भ में यही धारणा थी कि–

लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥५/५/१

लंका में सन्त तो हो ही नहीं सकते। इसीलिये वे विभीषणजी की भवन-रचना को देखकर चौंक उठे। पर बाद में वे समझ गये कि ईश्वर यदि सर्वव्यापी है तो लंका में भी निवास करता है। और 'जिस लंका में भगवान् रहें, वहाँ सन्त न रहें' यह बात सोचना ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ सन्त होंगे, वहाँ भगवान् भी होंगे।

गोस्वामीजी त्रिजटा का परिचय देते हुए कहते हैं कि–

त्रिजटा नाम राच्छसी एका।

त्रिजटा एक राक्षसी है। पर राक्षसी होने पर भी वह–

रामचरन रति निपुन बिबेका॥५/१०/१

भगवान् राम के चरणों की अनुरागिनी और परम विवेकशीला है।

शबरीजी की तरह त्रिजटा के जीवन में योग की पूर्णता विद्यमान् है। भगवान् राम जिस तरह से शबरीजी से पूछते हैं, सीताजी भी अपने संशय-सन्देह त्रिजटाजी के सामने रखती हैं और त्रिजटा उनका समाधान देती हैं। त्रिजटाजी के जीवन में ऐसी दिव्यता है कि वे भविष्य को स्वप्न के माध्यम से देख लेती हैं और दृढ़ विश्वास से कहती हैं कि–

यह सपना मैं कहउँ पुकारी।
होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥५/१०/७

मेरा सपना, सपना नहीं रहता, सत्य होता है।

लंका के रणांगण में जब कुम्भकर्ण मारा जाता है, और मेघनाद का वध लक्ष्मणजी के द्वारा हो जाता है, इसके बाद युद्ध के मैदान में रावण आता है। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में बताते हैं कि मेघनाद काम है, कुम्भकर्ण अहंकार है और रावण मूर्तिमान् मोह है। इसका अर्थ है कि सब विकारों-दोषों के नाश हो जाने के बाद मोह अन्त तक बना रहता है। गोस्वामी इसीलिये समस्त रोगों के मूल में विद्यमान् मोह को मिटाने के लिये गुरुदेव की वन्दना करते हुए कहते हैं कि–

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥१/०/५ सो.

मोह तो गुरुकृपा से ही मिट सकता है। मोह का नाश सचमुच कितना कठिन है, यह भगवान् राम और रावण के युद्ध में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

भगवान् राम रावण के सिर और भुजाओं को बार-बार काटते हैं, पर हर बार नये सिर और नयी भुजायें निकल आती हैं। यह हमारे जीवन का भी सत्य है। हम में से अधिकांश तो मोह को विनष्ट करने का प्रयत्न ही नहीं करते। कुछ लोग प्रयत्न तो करते हैं, पर नये सिरे से पैदा होने वाले मोह को देखकर उन्हें ऐसा लगने लगता है कि 'यह तो असम्भव है, अतः इस प्रयास को छोड़ो।'

सीताजी को त्रिजटा के माध्यम से युद्ध का समाचार प्रतिदिन मिलता ही रहता था। जब वे रावण की मृत्यु न हो पाने का समाचार सुनती हैं तो बहुत निराश हो जाती हैं। वे सोचती हैं कि इससे बढ़कर आश्चर्य की बात और क्या होगी कि–

रघुपति सर सिर कटेहुँ न मरई।

बिधि बिपरीत चरित सब करई॥६/६६/५

प्रभु के बाणों से रावण की मृत्यु नहीं हो पा रही है। लगता है कि–

मोर अभाग्य जिआवत ओही।६/६६/६

मेरा दुर्भाग्य ही रावण को जीवित कर रहा है।

त्रिजटा ने सीताजी को व्याकुल देखकर कहा–"राजकुमारी सीते! सचमुच रावण की मृत्यु न होने के पीछे कारण आप ही हैं।" सुनने में यह बात बड़ी विचित्र-सी लगती है क्योंकि सीताजी तो यही चाहती हैं कि रावण की मृत्यु जल्द से जल्द हो जाय। त्रिजटा और सीताजी का यह संवाद बड़ा महत्त्वपूर्ण है। 'त्रिजटा' शब्द का अर्थ भी बड़ा सांकेतिक है।

योगाभ्यास में तीन शब्द प्रयुक्त होते हैं–ध्याता, ध्यान और ध्येय। जो ध्यान करने वाला है वह है ध्याता। जिसका ध्यान करता है वह है ध्येय। और जहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येय का मिलन हो रहा है, वही त्रिजटा है।

हम लोगों के जीवन में ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता का प्रश्न ही कहाँ? पूजा में बैठे हैं, पर मन कहीं और घूम रहा होता है। यह तो बस ध्यान का एक नाटक मात्र है। सही अर्थों में ध्यान तो तीनों का एकाकार हो जाना ही है।

इस प्रसंग में गोस्वामीजी सीताजी के लिये लिखते हैं कि वे–

कृस तन सीस जटा एक बेनी।

वे 'एक जटा' हैं। इसका अर्थ है कि सीताजी निष्क्रिय भूमिका में हैं। यदि वे सक्रिय रूप में अपनी शक्ति का प्रयोग करें तो रावण को क्षणभर में नष्ट कर सकती हैं। यद्यपि उन्हें सब ज्ञात ही है कि कब क्या होने वाला है। पर साधना के क्रमिक विकास की दृष्टि से वे त्रिजटा से प्रश्न करती हैं। वे योग की अवस्था में स्थित रहकर भी वियोग के दुःख की बात सामने रखती हैं। साधकों के लिये इसमें एक संकेत है।

साधक कहीं से पढ़-सुनकर यदि साधना के प्रारम्भ में ही यह दुहराना शुरू कर दे कि ईश्वर तो हमें नित्य प्राप्त है, उससे हमारा वियोग है ही नहीं। तो यह अनुभवजन्य न होकर सुनी-सुनाई बात हुई। ईश्वर से संयोग की अनुभूति के लिये पहले जीवन में उसके वियोग की, उसके अभाव

की अनुभूति तो होनी चाहिए। ईश्वर-प्राप्ति की साधना बिना उसके वियोग और अभाव की अनुभूति के नहीं होगी। अभाव और उसे पाने की व्याकुलता से ही साधना का श्रीगणेश सम्भव है।

ब्रह्म निष्क्रिय है। उसमें कोई न तो अपनी इच्छा है और न ही कोई प्रेरणा। वह सन्तों और भक्तों की प्रेरणा से सक्रिय होता है। सीताजी ने भी अपनी शक्ति का प्रयोग केवल दो प्रसंगों को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं किया है।

'मानस' में वर्णन आता है कि सीताजी एक बार उस समय, जब अयोध्या से बारात जनकपुर आती है तथा दूसरी बार वन में अयोध्या से पधारी सासुओं की सेवा करते समय अपनी शक्ति का प्रयोग करती हैं। दोनों ही प्रसंगों में शक्ति के प्रयोग के पीछे सीताजी का उद्देश्य एक ही है।

वर्णन आता है कि जिस समय अयोध्या से बारात आई उस समय सीताजी ने एक चामत्कारिक प्रयोग किया। उन्हें लगा कि अयोध्यावासी आ रहे हैं एक ऐसे नगर में जो कि वैभव की दृष्टि से अयोध्या से छोटा है। 'कहीं, यहाँ आकर अयोध्यावासियों को कष्ट की अनुभूति न हो?' ऐसा सोचकर उन्होंने अपनी सिद्धियों को बुलाया और आदेश दिया कि 'अयोध्या से जो महानुभावगण आए हैं, उन्हें किसी अभाव या कष्ट की अनुभूति नहीं होनी चाहिए।' गोस्वामीजी लिखते हैं कि–

सिधि सब सिय आयसु अकनि गयी जहाँ जनवास।

लिये संपदा सकल सुख सुरपुर भोग बिलास॥१/२०६

सारी सिद्धियाँ सेवा हेतु प्रस्तुत हो जाती हैं।

अयोध्यावासियों ने जब उन सिद्धियों को देखा तो आश्चर्यचकित होकर सोचने लगे कि 'हम तो समझते थे कि जनकपुर बहुत छोटा-सा है, पर यहाँ तो अयोध्या से भी अधिक वैभव दिखाई दे रहा है!' पर वे यह नहीं जान पाए कि यह सब सीताजी ने किया है। वे तो जनकजी की प्रशंसा करते हैं–

बिभव भेद कछु कोउ न जाना।

सकल जनक कर करहिं बखाना॥१/३०६/२

पर भगवान् राम जान गये–

सिय महिमा रघुनायक जानी।
हरषे हृदयँ हेतु पहिचानी॥१/२०६/३

और प्रभु यह सोचकर प्रसन्न हो गये कि शक्ति का प्रयोग भी किया तो मेरे नाते से किया, जो मेरे से जुड़े हैं उनकी सेवा के लिये किया, अपनी महिमा स्थापित करने के लिये नहीं किया। सीताजी सेवा और प्रभु की महिमा-विस्तार के लिये अपनी शक्ति का उपयोग करती हैं। दूसरी बार सीताजी अपनी शक्ति का प्रयोग वन में करती हैं।

वनगमन के समय भगवान् राम ने सीताजी को समझाते हुए कहा कि 'आप अयोध्या में रहकर सासुओं की सेवा करें, इससे बड़ा धर्म और क्या होगा?' उस समय सीताजी ने बड़ा भावनात्मक उत्तर दिया। बोलीं—"प्रभु! मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है! क्या आपकी दृष्टि में सास-ससुर की परिभाषा बस इतनी सीमित है? परिवार के सास-ससुर ही क्या सास-ससुर हैं? मैं यहाँ से जा रही हूँ तो वहाँ भी तो सास-ससुर की सेवा के लिये ही तो जा रही हूँ"—

सास ससुर सम मुनि तिय मुनिवर।

वन में वे मुनि-पत्नियों और मुनियों को सास-ससुर मानकर उनकी सेवा करती हैं। बाद में श्रीभरत के साथ सब माताएँ भी चित्रकूट आती हैं।

माताओं को देखकर सीताजी को प्रभु का वह उपदेश स्मरण आ जाता है जो उन्होंने वनगमन के समय दिया था। वे उन सबकी बड़ी विलक्षण पद्धति से बड़ी सुन्दर सेवा करती हैं।

महाराज दशरथ की कितनी रानियाँ थीं, इस पर अलग-अलग संख्याएँ बताई गयी हैं। कोई तीन सौ साठ बताता है तो कोई साढ़े सात सौ। गोस्वामीजी संख्या के अंकों पर बहुत बल नहीं देते। वे कहते हैं कि जितनी सासुएँ थीं सीताजी ने अपने भी उतने ही रूप बना लिये और उन सबकी सेवा में संलग्न हो गयीं—

सीय सासु प्रति बेस बनाई।

प्रत्येक सास को यही लगा कि सीता तो मेरी ही सेवा में है। इस प्रकार वे अपनी सेवा से प्रत्येक सास को सन्तुष्ट करती हैं। यहाँ भी वे सेवा और प्रभु की महिमा की दृष्टि से ही शक्ति का प्रयोग करती हैं।

शक्ति के अनेक रूप हैं। पर मुख्यतया एक ओर, काली और दुर्गा

आदि के रूपों में जो देवियाँ, शक्तियाँ दिखाई देती हैं, वे महिषासुर आदि राक्षसों का संहार करती हैं, और भक्तों की रक्षा करती हैं, तो दूसरी ओर, सीताजी व राधाजी के रूप में जो शक्तियाँ हैं वे संहारक न होकर सेवा और प्रभु की महिमा के विस्तार हेतु प्रवृत्त होती हैं।

सीताजी और प्रभु में अभेद और अभिन्नता ही स्थित है। पर साधना के प्रारम्भ में साधक के जीवन में भेद की आवश्यकता है। दूरी की अनुभूति न हो तो क्या कोई चलकर जाना चाहेगा? यद्यपि सीताजी एवं भगवान् राम तत्त्वतः एक ही स्वरूप में स्थित हैं, पर लीला में सीताजी वियोग स्वीकार कर त्रिजटा से रावण के वध का उपाय जानना चाहती हैं, जिससे शीघ्र ही प्रभु से उनका 'योग' हो सके, मिलन हो सके।

त्रिजटा योगमयी हैं। रावण भी योगी है। पर दोनों में एक अन्तर है। यदि त्रिजटा 'सुयोगी' हैं तो रावण 'कुयोगी' है। रावण सीताजी का निरन्तर ध्यान करता है। त्रिजटा सीताजी से कहती हैं कि मोह का विनाश नहीं होगा क्योंकि उसे आपकी शक्ति प्राप्त है।

आप विचार करके देखें! मोह का अगर पूरी तरह विनाश हो जाय तो कोई क्रिया नहीं होगी। माता-पिता या अन्य सम्बन्धों के प्रति जो अनुभूति और कर्तव्य-बोध है, उनके पीछे कहीं न कहीं मोह की ही वृत्ति कारक है।

विवेकानन्द ने एक बार रामकृष्ण परमहंस से कहा कि 'मैं चाहता हूँ कि तत्त्वतः ब्रह्म के स्वरूप का मुझे साक्षात्कार हो जाय।' परमहंस ने कहा—"अभी नहीं। क्योंकि अभी तुमसे बहुत काम लेना है। काम पूरा हजपे के बाद तुम्हें अनुभूति होगी और फिर तुम्हारा शरीर भी छूट जाएगा।" वस्तुतः संसार का व्यवहार तो मोह के नाते ही टिका हुआ है। इसीलिये सारे अनर्थ भी मोह के ही कारण होते हैं।

महाभारत काल में जो धृतराष्ट्र है वह भी मोह का प्रतीक है। अन्धा होना एक बात है पर जो व्यक्ति जान-सुनकर भी बहाना कर रहा है कि 'मैं क्या करूँ, मैं तो अन्धा हूँ', वह मोहग्रस्त है। यही बहाना अधिकांश मोहग्रस्त व्यक्ति करते हैं। बहुधा लोग यही कहते सुने जाते हैं कि 'मेरे सामने तो हुआ नहीं, मैं तो जानता नहीं' आदि-आदि।

मोह में जैसी तन्मयता होती है, साधारणतया साधकों के जीवन में

वैसी तन्मयता नहीं देखी जाती। कोई भी पत्नी पति का नाम हाथ में माला लेकर नहीं जपती। पुत्र-पिता आदि के नाम-स्मरण के लिये किसी साधना की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये तो सहज रूप से याद हो जाते हैं। जहाँ मोह होता है वहाँ तो स्वाभाविक रूप से बिना प्रयास के ही उसकी स्मृति निरन्तर बनी रहती है। प्रत्येक व्यक्ति इसका अनुभव कर सकता है। इसीलिये गोस्वामीजी से जब यह पूछा जाता था कि भगवान् से प्रेम कैसे हो? नामजप कैसे हो? तो वे इन्हीं सम्बन्धों की तीव्रता के कारण कहते हैं कि–

सुत की प्रीति प्रतीत मीत की नृप ज्यों डर डरिए।

सांसारिक नातों में जिस प्रेम की अनुभूति हम करते हैं, उसी भाँति ईश्वर से भी हमारा प्रेम होना चाहिए। गोस्वामीजी 'मानस' के अन्त में इसी तरह की कामना प्रकट करते हैं।

प्रभु ने पूछा–"अब ग्रन्थ तो पूरा हो गया, बताओ तुम क्या कहते हो?"

–"प्रभु! मैं आपके चरणों में प्रेम चाहता हूँ।"

"कैसा प्रेम चाहते हो? लक्ष्मण की तरह, भरत की तरह या कि हनुमान् की तरह?"

–"महाराज! मैं तो इन भक्त शिरोमणियों के नाम लेने योग्य भी नहीं हूँ!"

–"तब तुम किस प्रकार का प्रेम चाहते हो?"

गोस्वामीजी ने प्रभु से कहा–"प्रभु!

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥७/१३०

कामी व्यक्ति को जैसा प्रेम स्त्री और लोभी को धन से होता है वैसा ही आपसे मेरा प्रेम हो।" क्या किसी धनी को अभ्यास करना पड़ता है कि उसे अपने धन का स्मरण बना रहे? उसका अन्तःकरण तो सदैव उसी में डूबा रहता है। उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में, जहाँ रागात्मकता होती है, वही बात दिखाई देती है।

त्रिजटा ने सीताजी से कहा कि रावण निरन्तर आपके ध्यान में डूबा हुआ है। उसे एक क्षण के लिये भी आपका विस्मरण नहीं होता। और

जब तक वह आपके ध्यान में डूबा हुआ है, तब तक उसका विनाश नहीं होगा। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि उसका ध्यान आपसे हटकर अलग हो।

सचमुच रावण में ध्यान की कितनी एकाग्रता है! ध्यान की महिमा सुनकर लोग ध्यान करने बैठ तो जाते हैं, पर यदि एक मच्छर भी काट दे तो उनका ध्यान टूट जाता है। पर रावण पर युद्धक्षेत्र में कितना प्रहार क्यों न होता रहे, उसका ध्यान कभी नहीं टूटता। मोहग्रस्त व्यक्ति की भी यही स्थिति होती है। परिवार में, सम्बन्धों से जुड़े अनगिनत प्रहार व्यक्ति पर होते ही रहते हैं, पर कभी भी उसका मोहभंग नहीं होता। रावण में एकाग्रता की, ध्यान की ऐसी विशिष्टता है। पर उसका दुर्भाग्य है कि उसका उपयोग वह भगवान् को पाने के लिये न करके भोगों की प्राप्ति के लिये करता है।

त्रिजटा सीताजी को ढाढ़स बँधाते हुए कहती है कि–

काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तव ध्यान।
तब रावनहि हृदय महुँ मरिहहिं रामु सुजान॥६/९९

प्रभु पहले ऐसे बाण का प्रयोग करेंगे कि जिससे वह आपके ध्यान से विरत हो जाय और तब उसके बाद प्रभु उसका वध कर देंगे।

इसका अर्थ यह है कि जब तक मोह की एकाग्रता-तन्मयता नष्ट नहीं होती, तब तक रावण का विनाश नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् जब कृपा करते हैं तो आसक्ति को नष्ट करने के लिये ऐसी घटनाओं की सृष्टि करते हैं कि जिसके द्वारा व्यक्ति के अन्तर्जीवन का मोह नष्ट हो जाय। मोह सचमुच इतना प्रबल है। इसलिये गोस्वामीजी 'मानस रोगों' का वर्णन करते हुए बताते हैं कि–

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥७/१२०/२९

दुर्गुणों में सबसे बड़ा दुर्गुण मोह ही है। काम, क्रोध, लोभ व अभिमान आदि का मूल भी मोह ही है। और यह जो मोह की जटिलता है उसके विनाश का उपाय त्रिजटा जैसी महिमामयी और ज्ञानमयी विभूति से ही ज्ञात हो सकता है। गोस्वामीजी बताते हैं कि उनके जीवन में मोह का विनाश गुरुकृपा से हुआ। वे यही कहते हैं कि–

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥१/०/सो.-५

गुरुदेव के वचनों के श्रवण से जो प्रकाश मिला उससे मेरा मोहान्धकार विनष्ट हो गया। गोस्वामीजी यह भी बताते हैं कि समस्त ज्ञानेन्द्रियों के कार्य-सम्पादन के लिये गुरुदेव का आश्रय लेना अत्यन्त कल्याणकारी है।

बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनको भूख नही लगती, उनकी भोजन में रुचि नहीं होती। ऐसे व्यक्ति कोई ऐसा चूरन खाते हैं जिससे भूख बढ़े। वैसे तो भूख न लगना भी एक रोग है, पर अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें शारीरिक भूख तो लगती है, अन्तर की, ज्ञान की भूख नहीं लगती। गोस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे रोगियों को भी चूरन चाहिए। चूरन का सम्बन्ध जिह्वा से है और यह चूर्ण तो–

अमिय मूरिमय चूरन चारू।
समन सकल भव रुज परिवारू॥१/०/२

गुरुदेव के सान्निध्य से ही प्राप्त होता है। चूर्ण कड़वा भी हो सकता है पर यह चूर्ण तो अमृत के समान है। इसके सेवन से व्यक्ति में ज्ञान की, भक्ति की और साधना की भूख जाग्रत हो जाती है।

गोस्वामीजी अपनी ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि जब मैं छोटा बच्चा था तो मेरी भी इस दिशा में कोई रुचि नहीं थी। पर गुरुदेव ने कृपा करके मुझे भगवान् की कथा सुनाई जिसे मैंने सुनी–

मैं निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥१/३०/(क)

पर वह समझ में नहीं आ रही थी। पर गुरुदेव तो रुचि पैदा करने वाले हैं। उन्होंने प्रभु की कथा मुझे बार-बार सुनाई–

तदपि कही गुर बारहिं बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा॥१/३०/१

और इस प्रकार मुझे कथा के स्वाद की अनुभूति हुई। गुरु के द्वारा कथा में सुरुचि उत्पन्न हो जाती है। सुरुचि का सम्बन्ध सुवास से भी है। भोजन का आस्वादन जिह्वा अवश्य करती है। पर उससे पूर्व नासिका उसके सुवास को ग्रहण करती है और यह बता देती है कि वह ताजा है अथवा सड़ा हुआ है, उसमें सुगन्ध है अथवा दुर्गन्ध है।

गुरुदेव के वचनों से कथा की जो सुगन्धि प्राप्त होती है उससे व्यक्ति वासना में दुर्गन्धि का अनुभव कर उससे मुक्त हो जाता है। गुरुदेव के वचन कर्णेन्द्रियों से अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर प्रभु की कथा के प्रति सुरुचि उत्पन्न करते हैं और जिह्वा से उसका आस्वादन कर जीव धन्य हो जाता है। इस प्रकार गुरुकृपा से जीवन में धन्यता की प्राप्ति होती है।

गोस्वामीजी बाद में जब एक सिद्ध महात्मा के रूप में पूजित हो गये तो लोग यह जानना चाहते थे कि उनके पास ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जिसके कारण उनका इतना नाम हो रहा है? गोस्वामीजी ने कहा कि इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। मेरी कोई साधना भी नहीं है। मैं भी ग्रन्थों को पढ़ता था, पर इस भ्रम में पड़ा रहता था कि क्या करूँ और क्या न करूँ? पर धन्य हैं गुरुदेव! जिन्होंने कहा–"तुलसी! तू सब छोड़कर बस राम नाम का जप किया कर!"

गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लागत राज डगरो सो।
(विनयपत्रिका/१७३/५)

मैंने वही किया। अतः यह सब तो गुरुकृपा का फल है कि उन्होंने मेरे हृदय में नाम के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी।

व्यक्ति को यदि बुखार हो जाय तो उसे भोजन अच्छा नहीं लगता। इसी प्रकार जब तक मन में रोग बने रहते हैं, तब तक व्यक्ति को भगवान् की कथा में, भक्ति में रस की अनुभूति नहीं हो सकती। पर गुरुदेव की यही विशेषता है कि वे–

समन सकल भव रुज परिवारू।

मानस के समस्त रोगों को दूर कर देते हैं। व्यक्ति का मोह विनष्ट हो जाता है और वह प्रभु की भक्ति प्राप्त कर धन्य हो जाता है।

शास्त्रों में तथा 'मानस' में भी अलग-अलग सन्दर्भों में दोष-दर्शन को लेकर यह प्रश्न आता है कि 'दोष-दर्शन करना चाहिए या नहीं?' एक वाक्य यह भी आता है कि 'दोष-दर्शन करना शास्त्र-विरुद्ध है।' इससे जुड़ा एक संस्मरण मैं नहीं भूल पाता।

एक बार मुझे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में बुलाया गया जो बड़े-बड़े विद्वानों का एक केन्द्र है। मैंने जब वहाँ यह कहा कि रामचरितमानस में लिखा हुआ है कि–

सपनेहुँ नहिं देखहि परदोषा।

तो एक विद्वान् पण्डित खड़े हो गये और बोले—"आपकी यह बात बिलकुल ठीक नहीं है। शास्त्र तो कहते हैं कि **'पंडितो दोषज्ञः'**—दोषों को जानने वाला ही पंडित होता है। और आप कह रहे हैं कि दोष नहीं देखना चाहिए।" उस समय मैंने उनसे यही निवेदन किया कि आप जो वाक्य उद्धृत कर रहे हैं उसमें लिखा है कि दोष देखना चाहिए, पर यह नहीं लिखा है कि किसका दोष देखना चाहिए? अपना या दूसरों का? इस वाक्य का अर्थ यदि 'दूसरों का दोष देखना पांडित्य है' ऐसा लिया जाय, तो ऐसा पांडित्य तो कष्टदायी है। दोष देखने के सन्दर्भ में एक बात और भी है जो बड़े महत्त्व की है।

दूसरों के द्वारा दोष देखा जाना या बुरा कहना किसी को अच्छा नहीं लगता, पर वैद्य के विषय में यह बात लागू नहीं होती। वैद्य यदि आकर किसी बीमार व्यक्ति की आँख, कान, नाक अथवा शरीर के अवयवों के सौन्दर्य की प्रशंसा करने लगे तो क्या इसे सुनकर अस्वस्थ्य व्यक्ति प्रसन्न हो जाएगा? वह तो यही चाहेगा कि वैद्य उनमें जो कमी है, दोष आ गये हैं उन्हें देखे और उन कमियों को दूर करने का उपाय बताए, दवा दे और स्वस्थ्य कर दे। गुरु के सन्दर्भ में भी यही बात है।

अतः हम यदि अपनी कमियों को दूर करना चाहते हैं तो अभिमान रहित होकर गुरु के चरणों की सेवा करें, अपनी कमियों को दूर करने के लिये उनसे चूर्ण प्राप्त करें और दोषों से मुक्त होकर स्वस्थ्यता प्राप्त कर जीवन को सार्थक करें, धन्यता प्राप्त करें। इसीलिये भगवान् राम कहते हैं कि 'गुरुदेव की अभिमान से रहित होकर सेवा करना तृतीय भक्ति है।'

॥बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय॥

□

तृतीय प्रवचन

नवधाभक्ति के जितने रूपों का वर्णन किया गया है वे सब परम कल्याणकारी हैं, पर साधक के लिये तीसरी भक्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, आवश्यक है।

'मानस' में भगवान् के महत्त्व को तो बार-बार प्रतिपादित किया ही गया है, पर भगवान् की तुलना में भी जिसे अधिक महत्त्व दिया गया है वे हैं गुरु। महर्षि वाल्मीकि भी भगवान् राम को उनके निवास के लिये यही कहते हैं कि—

तुम्ह तें अधिक गुरुहि जियँ जानी।
सकल भायँ सेवहिं सनमानी॥२/१२८/८

'जो आपकी अपेक्षा भी गुरुदेव को अधिक जानकर पूर्ण सम्मान के साथ उनकी सेवा और आज्ञा का पालन करता है, आप उसके हृदय में निवास करें।'

'मानस' में गोस्वामीजी ने गुरु को जो महत्त्व दिया है वह काव्यात्मक अतिशयोक्ति न होकर साधना और जीवन का सत्य है। 'मानस' के प्रारम्भ में उनके द्वारा जिन व्यक्तियों की वन्दना की गयी है, उनकी संख्या नौ है। गणेशजी, सरस्वतीजी, भगवान् शंकर और पार्वती, हनुमान्जी, वाल्मीकि जी, भगवान् राम एवं सीताजी, इन आठों के साथ-साथ वे अपने गुरुदेव की भी वन्दना करते हैं। गोस्वामीजी इस वन्दना में जो क्रम प्रस्तुत करते हैं, वह बड़ा सांकेतिक है।

गोस्वामीजी भी कभी-कभी अंकों के प्रयोग के माध्यम से भी सुन्दर संकेत देते हैं। ऐसा बहुधा देखा जाता है कि जो अति विशिष्ट व्यक्ति

होता है, उसे बीच में बैठाया जाता है। इस वन्दना क्रम में गोस्वामीजी सरस्वतीजी, गणेशजी, शंकरजी एवं पार्वतीजी इन चारों की वन्दना करने के पश्चात् पाँचवें स्थान पर गुरु को रखकर उनकी बन्दना करते हैं। इस प्रकार मानो वे केन्द्र में गुरुदेव को रखकर उसकी महत्ता के साथ-साथ यह बताना चाहते हैं कि शेष सभी आठों की कृपा गुरु के केन्द्र में होने से प्राप्त होती है। गुरुदेव ही इन सबसे कृपा प्रदान कराते हैं।

इस देश में वैसे तो गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त करने की परम्परा रही है। परम्परा का भी अपना एक महत्त्व होता है पर परम्परा के पीछे अगर क्रियामात्र ही हो, विचार न हो, तो साध्य तक पहुँचने में, परिणाम प्राप्त करने में बहुत विलम्ब होने की सम्भावना बनी रहती है। क्योंकि ऐसी साधना में क्रियामात्र की प्रधानता रह जाती है। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में इसी की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं कि–

साधन करिअ विचारहीन मन,

जब तक साधना की क्रिया के पीछे विवेक नहीं होगा, तब तक उस क्रिया का परिणाम विलम्ब से ही प्राप्त होगा। और साधना-क्रिया के लिये जिस विवेक की अपेक्षा है उसकी उपलब्धि तो गुरु कृपा के माध्यम से ही होती है।

गुरुदेव को अनेक रूपों में प्रस्तुत कर उनकी अनेक भूमिकाओं का 'मानस' में वर्णन किया गया है। भगवान् राम स्वयं गुरुतत्त्व की व्याख्या करते हुए उनके महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं। लंकाविजय के पश्चात् भगवान् राम अयोध्यावासियों को एक सुन्दर उपदेश देते हैं जिसमें वे बताते हैं कि मनुष्य को जो इतना श्रेष्ठ शरीर प्राप्त हुआ है, वह उसके किसी पुरुषार्थ का परिणाम न होकर ईश्वर की अनुकम्पा का परिणाम है। सत्कर्म को भी इसमें एक हेतु के रूप में देखा जा सकता है, पर अन्ततोगत्वा यह भगवत्कृपा ही सिद्ध होगी।

गोस्वामीजी कहते हैं कि संसार में पिता अपने पुत्र को अपनी सम्पत्ति देता है तो वह उसकी किसी योग्यता के नाते से नहीं देता। भगवान् भी ठीक उसी तरह हम सबको कृपा करके यह शरीर प्रदान करते हैं। और जिस तरह पिता चाहता है कि पुत्र उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग करे, उसी तरह परमपिता भी चाहता है कि मनुष्य, इस दुर्लभ

शरीर को पाकर, उस उद्देश्य की प्राप्ति कर ले जिसके लिये यह दिया गया है। और जैसे पिता से प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग करना पुत्र पर निर्भर करता है, उसी प्रकार इस शरीर का उपयोग करना भी व्यक्ति पर निर्भर है।

शास्त्रों में तथा 'मानस' दोनों में ही इस मानव देह को साधन का माध्यम बताया गया है। साधक गुरुकृपा से अपने लक्ष्य को जानकर उस दिशा में प्रवृत्त हो जाता है। साधक-भक्त और साधारण व्यक्ति के जीवन में एक अन्तर दिखाई देता है और वही साधक का लक्षण भी है।

सभी व्यक्तियों के जीवन में जो घटनाएँ घटित होती हैं, उनमें कुछ अनुकूल होती हैं, और कुछ प्रतिकूल होती हैं। यह स्वाभाविक ही है कि अनुकूलता सबको प्रिय लगती है और प्रतिकूलता किसी को भी अच्छी नहीं लगती। प्रतिकूलता भले ही प्रिय न लगे, पर ऐसा कोई भी जीवन सम्भव नहीं है जिसमें प्रतिकूलता न हो। अब ऐसी स्थिति में सच्चे साधक की क्या दृष्टि होनी चाहिए?

इस विषय में श्रीमद्भागवत में ऋषियों के संवाद में जो श्लोक आता है, वह बड़े महत्त्व का है। उसमें कहा गया है कि 'आपका भक्त वह है जो आपकी अनुकम्पा की सुसमीक्षा करता है–

तत्तेऽनुकंपां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्ति पदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/८)

भगवान् के दिव्य मुक्त स्वरूप का उत्तराधिकारी कौन बनेगा, यह बताते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् के प्रत्येक कार्य की समीक्षा ही नहीं, सुसमीक्षा करता है। इसका अर्थ है कि भगवान् के द्वारा जो कुछ घटनाएँ घटित होती हैं, उनकी समीक्षा नहीं, सुसमीक्षा करनी चाहिए।

कुछ घटनाएँ तो सरलता से व्यक्ति की समझ में आ जाती हैं। पर कई बार उसे लगता है कि ऐसा नहीं होना चाहिए था, प्रतिकूल क्यों हो गया? प्रतिकूलता मिटाने का एक ही उपाय है कि उस घटना की सुसमीक्षा की जाय।

घटना के प्रति जो हमारी दृष्टि है उसमें यदि प्रतिकूलता दिखाई दे तो उसका कारण है हमारी और भगवान् की दृष्टि का पार्थक्य। ऐसी

स्थिति में हमें ईश्वर की दृष्टि को ही स्वीकार करना चाहिए। इसलिये रामचरितमानस में भक्तों के लिये दो शब्द चुने गये—'हरिकृपा' और 'हरिइच्छा'।

हम-आप जो चाहते हैं यदि वह पूरा हो जाय तो यह प्रभु की कृपा है, यह तो सबको लगता है, पर यदि ऐसा न हो तो उसे प्रतिकूल न मानकर 'हरिइच्छा' के रूप में स्वीकार करना चाहिए। इस सन्दर्भ में पिछले दिनों घटित लखनऊ की बात याद आती है।

दिल्ली के बाद प्रतिवर्ष लखनऊ में कार्यक्रम आयोजित होता है। बहुत वर्षों से यह क्रम चला आ रहा है। पिछले वर्ष एक अनोखी बात हुई। आठ दिनों तक बड़े सुन्दर ढंग से कथा का क्रम चलता रहा। पर अन्तिम दिन जिस प्रांगण में कथा होती थी, उस ट्रस्ट के संचालक का पत्र आया कि उनके किसी प्रिय व्यक्ति के शरीर-शान्त हो जाने के कारण उस प्रांगण का कथा-स्थल के रूप में उपलब्ध करा पाना सम्भव नहीं होगा। लगा कि स्थानाभाव के कारण कथा नहीं हो पाएगी।

संयोजकों को लगा कि बीच में किसी दिन कथा न हो तो जैसे-तैसे कुछ करके कथाक्रम आगे चले ऐसी व्यवस्था की जा सकती है, पर आखिरी दिन कथा न होने से लोगों को सूचना कैसे दी जा सकेगी? लोगों को निराशा होगी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। दूसरे स्थान का चुनाव हो गया, लोगों को सूचना भी दे दी गयी और आशा से कहीं अधिक संख्या में लोग एकत्रित भी हो गये। उस दिन कथा के प्रारम्भ में मैंने यही कहा कि 'आठ दिनों तक हमने हरिकृपा से कथा सुनी, आज हरिइच्छा से कथा सुन रहे हैं।'

ऐसी घटना केवल हम लोगों के जीवन में नहीं घटती, भगवान् शंकर जैसे ईश्वर कोटि के देवता के सामने भी ऐसी स्थिति आती है पर तब वे इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भगवान् राम की लीला को देखकर जब सतीजी को मोह हो जाता है तो भगवान् शंकर उन्हें समझाने का प्रयास करते हैं। भगवान् शंकर त्रिभुवन गुरु हैं। उनसे बढ़कर उपदेश देने वाला और कौन हो सकता है? पर सतीजी की समझ में बात नहीं आ पाती। वे कहती हैं कि 'महाराज! मैं आपका अनादर नहीं करना चाहती, पर मेरी बुद्धि आपकी बात ग्रहण

नहीं कर पा रही है, तो मैं क्या करूँ?' भगवान् शंकर को आश्चर्य होता है। वे विचार करते हैं कि अनेकानेक जिज्ञासु, ऋषि-मुनि अपने संशय-निवारण के लिये मेरे पास आते हैं, पर आज मेरी अर्द्धांगिनी ही मेरी बात नहीं समझ पा रही है!—

मोरेहु कहें न संसय जाहीं।
बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥१/५१/६

लगता है कि ब्रह्माजी विपरीत हो गये हैं' उनको इसमें कोई भलाई नहीं दिखाई देती।

कोई शंकरजी से पूछ सकता है—"महाराज! ब्रह्मा क्या आपसे बड़े हैं? ब्रह्मा के विपरीत होने पर तो लोग आपकी आराधना करते हैं, आपसे विपरीतता मिटाने की प्रार्थना करते हैं। पर आप ऐसा क्यों कह रहे हैं?"

भगवान् शंकर कहते हैं—"ब्रह्मा विपरीत दिखाई दे रहे हैं और मेरे समझाने पर भी सती समझ नहीं पा रही हैं, तथा प्रकट रूप से इसमें कोई भलाई भी नहीं दिखाई दे रही है, इसलिये मुझे कुछ और ही बात लगती है।" इस समय गोस्वामीजी भगवान् शंकर के लिये जिस विशेषण का उपयोग करते हैं वह बड़ा सांकेतिक है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

हरि इच्छा भावी बलवाना।
हृदयँ बिचारत संभु सुजाना॥१/५५/६

'संभु सुजाना'। 'सुजान' उसे कहा जाता है, जो हर बात को अच्छी तरह से जानता-बूझता है। सुजान भगवान् शंकर इसे हरिइच्छा के रूप में स्वीकार करते हैं। वे अच्छी तरह समझ जाते हैं कि यद्यपि इसमें अकल्याण और अहित है, पर यह तो भगवान् का संकल्प है और यह हरिइच्छा तो पूर्ण होगी ही।

इसका अर्थ है द्रिष्टाकूलता और प्रतिकूलता दोनों को ही भगवान् के प्रसाद के रूप में स्वीकार करना चाहिए। यदि भगवान् की कृपा हो तो मानो वह हलवा का प्रसाद है और यदि उनकी इच्छा पूरी हो, भले ही उसमें विपरीतता दिखाई पड़े, तो वह भी प्रसाद ही है।

'प्रसाद' से जुड़ा एक संस्मरण मैं नहीं भूल पाता। गीताप्रेस में एक महात्मा थे। वे बड़े भक्त थे और हमेशा 'रघु-रघु' कहा करते थे, इसीलिये वे 'रघु बाबा' के नाम से जाने जाते थे। उनके यहाँ जो प्रार्थना होती थी

उसमें बड़ी संख्या में श्रद्धालु भक्तगण एकत्र होते थे।

भगवान् को भोग लगाने के लिये जब उनसे पूछा जाता था कि 'बाबा! आज क्या भोग लगाया जाय?' तो वे कहते थे कि 'मैं पूछकर बताता हूँ।' लोग उन पर श्रद्धा करते थे, अतः वे ठाकुरजी से पूछकर जिस वस्तु का नाम लेते थे, उसे मँगाकर उसी का नैवेद्य लगाया जाता था।

एक दिन बड़ी अनोखी बात हुई। बाबा ने कहा कि आज भगवान् कच्चे करेले का भोग लगाएँगे! उनकी आज्ञा थी अतः करेला लाया गया और उसका भोग लगाया गया। पर उस दिन जब करेले का प्रसाद बाँटा जाने लगा तो प्रत्येक व्यक्ति यही कहता था कि 'प्रसाद का एक कण भी बहुत होता है, बस एक कण दीजिए।' हलुआ हो तो चाहे जितना मिल जाय पर कड़वी वस्तु को कौन लेना चाहेगा? पर जीवन में 'हरिकृपा' और 'हरिइच्छा' दोनों की अनुभूति होती ही है।

भगवान् राम ने उपदेश देते हुए कहा कि–

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥७/४३/६

मनुष्य को जो शरीर मिला है, वह ईश्वर की कृपा से मिला है। फिर भगवान् राम शरीर की तुलना नाव से करते हुए कहते हैं कि–

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥७/४३/७

यह संसार एक समुद्र की तरह है और उसे पार करने के लिये मनुष्य का शरीर एक नौका की तरह है। नाव का सदुपयोग यही है कि यात्री गन्तव्य तक पहुँच जाय। नाव चलाने के लिये पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। साधना ही मानो पुरुषार्थ है। नाव को गन्तव्य तक ले जाने के लिये पुराने समय में नाव के ऊपर कपड़ा बँधा रहता था जिसे पाल कहते थे। आजकल के जलयानों में यद्यपि इसकी आवश्यकता न रह गयी हो, पर पुराने समय में हवा की दिशा के अनुसार पाल का उपयोग नौका को दिशा व गति देने में होता था। भगवान् राम कहते हैं कि मेरी कृपा ही वायु है।

इसका अर्थ है कि व्यक्ति यह मानने की भूल न कर बैठे कि वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा, अपनी साधना के द्वारा ही नाव से पार हो

जाएगा। वस्तुतः न दिखाई देने वाली वायु की ही भाँति, ईश्वर की अनुकम्पा, अनुकूलता भी परम आवश्यक है। बहुत से व्यक्ति पुरुषार्थ करने को ही बहुत महत्त्व देते हैं। पुरुषार्थ पर उन्हें बड़ा अभिमान भी होता है, पर पुरुषार्थी व्यक्ति को कितना सावधान रहना चाहिए, इसके विषय में एक व्यंग्यात्मक लघुगाथा आती है।

एक व्यक्ति ने निर्णय किया कि वह रात्रि में यात्रा करेगा जिससे धूप-ताप से बचा जा सके। रात्रि में वह अपनी नौका में जा बैठा और रातभर बड़े उत्साह और परिश्रम से नाव खेता रहा। पर प्रातःकाल सूयादुःख होने पर उसने देखा कि नाव तो जहाँ थी, वहीं है। वह व्यक्ति सोचने लगा–'रातभर नाव चलाने के बाद भी यह क्या हो गया?'

किसी बुद्धिमान् व्यक्ति ने उससे कहा–"भले ही तुम रातभर नाव खेते रहे, पर उससे नाव आगे कैसे बढ़ेगी क्योंकि तुमने लंगर तो उठाया ही नहीं! जब तक लंगर नहीं उठाओगे, सारा परिश्रम व्यर्थ चला जाएगा।" इसका अर्थ है कि **व्यक्ति अभिमान का लंगर उठाए बिना चाहे जितनी साधना करता रहे, वह जीवन के चरम लक्ष्य की दिशा में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता।** उसका सारा पुरुषार्थ व्यर्थ ही चला जाएगा। साधना में निरभिमानिता प्रथम आवश्यकता है। अभिमान ही रावण के विनाश का कारण बन जाता है।

भगवान् राम को दण्डकारण्य में विलाप करते हुए देखकर रावण के हृदय में यह संशय उत्पन्न हो जाता है कि 'श्रीराम मनुष्य हैं या ईश्वर हैं?' इस संशय के निराकरण का उसके पास बड़ा सरल उपाय था। भगवान् शंकर रावण के गुरु हैं। वह उनके पास जाकर अपने संशय का समाधान प्राप्त कर सकता था। पर अभिमान के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता। रावण सोचता है–'क्या मेरे पास बुद्धि नहीं है, तो मैं उनसे जाकर पूछूँ?' वह अभिमान के कारण गुरु के महत्त्व को नहीं जान पाता। भगवान् राम साधना के सन्दर्भ में गुरु की महत्ता बताते हुए आगे कहते हैं कि–

करनधार सदगुर दृढ़ नावा।

सद्गुरु ही इस नाव के कर्णधार हैं।

पुराने समय में नाव को नियन्त्रित करने के लिये एक व्यक्ति होता

था जो नाव को दाएँ-बाएँ मोड़ता था, बीच में पड़ने वाली भँवर से बचाता था तथा नाव को सही दिशा में ले जाता था। इसे कर्णधार कहा जाता था। भगवान् राम बताते हैं कि साधक को सही दिशा में ले जाने वाले कर्णधार तो गुरुदेव ही हैं। इसलिये साधक यदि साधना करना चाहता है तो अपने आप निर्णय न करके गुरुदेव से प्रार्थना करें कि जिससे वे बता दें कि उसके लिये कौन-सी साधना-पद्धति उपयोगी रहेगी। अपनी लीला के माध्यम से भगवान् श्रीराम गुरुदेव की विशेषता को प्रकट करते हैं।

लंका के महायुद्ध में भगवान् विजयी होते हैं। चारों ओर जयध्वनि सुनाई पड़ती है। देवतागण स्तुति करते हैं। पर भगवान् राम इस विजय को किस दृष्टि से देखते हैं? बहुधा देखा जाता है विजय प्राप्ति के बाद व्यक्ति में अभिमान का उदय हो जाता है और पराजय के बाद अनास्था उत्पन्न हो जाती है। दोनों ही दुर्भाग्यपूर्ण हैं।

भगवान् राम जब लौटकर अयोध्या आते हैं तो कौसल्या अम्बा उन्हें चकित भाव से देख रही हैं कि मेरे पुत्र ने उस दुर्दान्त और शक्तिशाली रावण को कैसे परास्त किया होगा? गोस्वामीजी यही लिखते हैं कि–

हृदयँ बिचारति बारहिं बारा।
कवन भाँति लंकापति मारा॥७/६/७

भगवान् राम उनके मन की बात भाँप लेते हैं और जो बात कहते हैं वह बड़ी उपयोगी है। वे एक दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि 'वस्तुतः यह युद्ध एक समुद्र की तरह था। और जैसे कोई व्यक्ति समुद्र की लम्बी यात्रा करके आए और यदि कहने लगे कि मैंने इतना विशाल समुद्र पार कर लिया, तो यह तो उसका एक व्यर्थ अभिमान है। समुद्र पार करने वाला व्यक्ति यदि जहाज पर चढ़कर पार हो जाय, तो इसमें अभिमान की क्या बात है? मुझे भी एक जहाज की आवश्यकता थी जो मुझे प्राप्त हो गया और मैं उस पर सवार हो गया।'

भगवान् राम के साथ वे बन्दर भी अयोध्या आए हुए हैं जो लंका में युद्ध में सम्मिलित हुए थे। वे सब बन्दर गुरु वसिष्ठ के सामने ही खड़े हैं।

गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में बन्दरों को साधना के विविध रूपों में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि–

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट विपुल,
बन्दर और रीछ ये सब साधन हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'गुरुदेव एवं साधन और उनके मध्य खड़े भगवान् राम' मानो यही त्रिपुटी है। इन तीनों के योग से ही व्यक्ति का जीवन सार्थक हो जाता है। क्योंकि यदि साधन हों पर गुरुदेव न हों तो व्यक्ति अभिमानी बन जाएगा और यदि गुरुदेव हों, पर उनके द्वारा बताए गये साधन क्रियान्वित न हों तो फिर ईश्वर की प्राप्ति कैसे होगी?

भगवान् राम गुरुदेव से बन्दरों का परिचय देते हुए कहते हैं कि–

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहँ बेरे॥७/७/७

'मुझे युद्ध-समुद्र से पार ले जाने के लिये इन बन्दरों की भूमिका एक जहाज की तरह रही है।' प्रभु का यह कथन साधन को गौरव प्रदान करता है क्योंकि सद्गुण रूपी साधनों के द्वारा दुर्गुण रूपी राक्षसों का विनाश होता है।

प्रभु बन्दरों का परिचय जहाज के रूप में देते हैं और बन्दरों से गुरुदेव का परिचय कराते हुए कहते हैं कि 'साथियो!

गुरु बसिष्ठ कुल पूज्य हमारे।
इनकी कृपा दनुज रन मारे॥७/७/६

रणांगण में गुरुदेव भले ही प्रत्यक्ष रूप से न दिखाई देते रहे हों, पर इनकी कृपा ही कर्णधार के रूप में सर्वदा, युद्ध-समुद्र में दिशा प्रदान करती रही।' इस प्रकार प्रभु विजय के पीछे गुरुदेव की कृपा और बन्दरों के पुरुषार्थ को ही कारण के रूप में देखते हैं। इसलिये वे कहते हैं कि 'इस विजय अभियान में मेरी कोई भूमिका नहीं है, मैं तो बिना कुछ किए यश का भागीदार बन गया।'

गोस्वामीजी 'मानस' में गुरुदेव को कई रूपों में प्रस्तुत करते हैं। गोस्वामीजी ने अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में गुरुदेव की वन्दना करते हुए एक दोहे में, जो हनुमान् चालीसा में भी है, कहते हैं कि–

श्री गुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि॥२/०

मन रूपी दर्पण गुरु के पदरज से स्वच्छ होता है।

व्यक्ति को देखने के लिये दो वस्तुओं की आवश्यकता है। एक तो दृष्टि और दूसरा दर्पण। दृष्टि के अभाव में व्यक्ति देख ही नहीं पाएगा। पर यदि केवल दृष्टि हो, दर्पण न हो, तो व्यक्ति केवल दूसरों को ही देख पाएगा, स्वयं को नहीं देख पाएगा।

बाहर जैसे दृष्टि और दर्पण है वैसे ही अन्तःकरण में जो मन है वह दर्पण है और बुद्धि ही दृष्टि है। दर्पण के ऊपर यदि धूल, मिट्टी और गन्दगी जम गयी हो तो उसमें कुछ भी दिखाई नहीं देगा। अतः इसे साफ करने की आवश्यकता होगी। दृष्टि में भी दोष आ जाने पर व्यक्ति ठीक से नहीं देख पाता। इसलिये दर्पण और दृष्टि दोनों ठीक हों यह आवश्यक है। गोस्वामीजी कहते हैं कि गुरुदेव की चरणधूलि में वह शक्ति है कि जिससे मन रूपी दर्पण और बुद्धि रूपी दृष्टि दोनों के दोष दूर हो जाते हैं—

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजद्रष्टा
नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन।
बरनउँ राम चरित भव मोचन॥१/१/२,३

मन के दोष जब दिखाई देने लगें, तब साधक उन्हें दूर करने का प्रयास करेगा। पर यह बहुत कठिन है। शरीर में रोग हो जाय तो व्यक्ति उसे स्वीकार कर उसका उपचार कराना चाहता है, पर मन के जो रोग होते हैं उनकी विडम्बना यही है कि मन का रोगी अपने आपको रोगी न मानकर दूसरों को रोगी मानता है। रावण के सन्दर्भ में एक व्यंग्यात्मक प्रसंग आता है।

रावण मूर्तिमान् मोह है। मन्दोदरी जब उसे समझाने की चेष्टा करती है तो रावण व्यंग्य करते हुए उससे यही कहता है कि—

अहो मोह महिमा बलवाना।

'मैं समझ गया कि तुम कितनी मोहग्रस्त हो!' मूर्तिमान् मोह, मन्दोदरी को ही मोहग्रस्त बता रहा है! मन के रोगी का यही लक्षण है। पर गुरुकृपा से व्यक्ति मन तथा बुद्धि दोनों के दोषों से मुक्त हो सकता है।

बार-बार यह प्रश्न उठाया जाता है कि गुरु बड़े या भगवान् बड़े? दोनों ही बड़े हैं पर साधना काल में गुरु को ही बड़ा मानना चाहिए। 'मानस' में इस सूत्र का एक सुन्दर प्रमाण पार्वतीजी के प्रसंग में आता है।

पार्वतीजी नारदजी को अपना गुरु मानती हैं और उनके उपदेश को ग्रहण कर भगवान् शंकर को पति के रूप में पाने के लिये बड़ी कठिन तपस्या करती हैं। भगवान् राम शंकरजी के पास जाकर पार्वतीजी की प्रशंसा करते हैं और उन्हें उनसे विवाह करने का आदेश देकर चले जाते हैं। उसके बाद जब सप्तर्षि भगवान् शंकर के पास आते हैं तो वे उन्हें पार्वतीजी की परीक्षा लेने का काम सौंप देते हैं।

सप्तर्षियों ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—''महाराज! भगवान् राम ने भी तो परीक्षा लेने के बाद ही आपको पार्वतीजी से विवाह करने का आदेश दिया होगा! फिर भी आप हमें परीक्षा लेने के लिये क्यों भेज रहे हैं?''

शंकरजी ने कहा—''भगवान् राम परीक्षा लेने में बड़े उदार हैं। वे किसको कौन-सा प्रमाणपत्र दे दें, कुछ पता नहीं। इसलिये उनके प्रमाणपत्र को उस व्यक्ति की योग्यता का प्रमाणपत्र न मानकर प्रभु की कृपा का प्रमाणपत्र मानना चाहिए। अतः आप लोग जाकर ठीक से परीक्षा लें।''

पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु।१/७७

सप्तर्षियों ने पार्वतीजी के पास जाकर प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया—''आप किसलिये तपस्या कर रही हैं?'' बोलीं—

चाहिअ सदा सिवहिं भरतारा॥१/७७/७

''शंकरजी को पतिरूप में पाने के लिये।''

पूछने वाला अपने आपको यह मानकर प्रश्न करता है कि 'मैं सबसे अधिक ज्ञान रखता हूँ', तो वह बड़े संकट में पड़ सकता है। कई बार लोग मेरे पास भी पूछने के लिये आते हैं। पर जब वे प्रश्न करते हैं तो मैं उनके हाव-भाव से समझ जाता हूँ कि वे जानने के लिये नहीं, परीक्षा लेने के लिये आए हैं। इसलिये मैं उनसे यही कहता हूँ कि आप इतना ध्यान लगाकर अध्ययन करते हैं, आपने भी कुछ सोचा होगा? और जब वे बताते हैं तो मैं उनसे कहता हूँ कि 'आपने बिलकुल ठीक सोचा है।' वे प्रसन्न होकर लौटते हैं कि मैंने भी प्रमाणपत्र दे दिया।

पार्वतीजी समझ गयीं कि सप्तर्षिगण परीक्षा लेने के लिये आए हुए हैं। इसलिये उन्होंने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया कि 'बुद्धिचातुर्य जैसी कोई विशेषता मुझमें नहीं है।' वे कहती हैं—

देखहु मुनि अविवेकु हमारा।
चाहिअ सदा सिवहिं भरतारा॥१/७७/७

सुनकर सातों महात्मा हँसने लगे। पूछा—"आपने किससे दीक्षा ली है?"

—"श्री नारद मेरे गुरु हैं।"

सप्तर्षियों ने व्यंग्य करते हुए कहा—"तुमने गुरु का बिलकुल गलत चुनाव किया है। नारद क्या जाने विवाह कराना? यदि जानता होता तो कम से कम अपना विवाह तो करा ही लेता! नारद को तुम जानती ही नहीं। उसकी चेष्टा तो यही रहती है कि कोई विवाह ही न करे। और यदि कहीं विवाह हो भी गया हो तो वह यही चाहता है कि वह टूट जाय। तुमने ऐसे नारद की बात मान ली! अब समझ में आया कि तुम पत्थर की ही तो बेटी हो ना!"

सप्तर्षि जब अपनी बात पूरी कर चुके तो पार्वतीजी ने कहा—"महाराज! मैंने तो पहले ही कह दिया था कि मैं विवेकरहित हूँ, जड़ हूँ। पर आप लोग यह बताइए कि जो पत्थर को उपदेश दे उसे क्या कहेंगे?" सप्तर्षियों को चुप हो जाना पड़ा। पर उन्होंने हार नहीं मानी। वे कहने लगे—"ठीक है! तुम हमारी बात नहीं मान रही हो, पर जिनको पाने के लिये साधना कर रही हो यदि वे भगवान् शंकर स्वयं आकर तुम्हें नारद के उपदेश का परित्याग करने के लिये कह दें, तब तो तुम मान जाओगी न?"

यह बड़ा कठिन प्रश्न था। पर पार्वतीजी ने इसका जो उत्तर दिया वह साधना का प्राण है। वे बोली—"भगवान् शिव तो मेरे परमाराध्य हैं, पर—

तजउँ न नारद कर उपदेसू।
आप कहहिं सत बार महेसू॥१/८०/६

उनके एक क्या सौ बार कहने पर भी मैं अपने गुरुदेव नारद के उपदेश का परित्याग नहीं करूँगी।" यही साधना का महानतम् सूत्र है। सप्तर्षि उन्हें प्रणाम कर बड़ी प्रसन्नता से उनसे विदा लेते हैं।

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में मानस-रोगों के सन्दर्भ में गुरु की भूमिका के महत्त्व को समझाते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि दवाएँ तो बहुत हैं—

नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान॥७/१२१ (ख)

और लोग मनमानी दवा भी खा रहे हैं, पर रोग घट नहीं रहा है। और यदि एक रोग घट भी जाय तो दूसरा रोग बढ़ जाता है। अतः मानस रोगों को दूर करने के लिये ठीक दवा का निर्धारण करने वाला वैद्य तो सद्गुरु ही है—

सदगुर बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न बिषय कै आसा॥७/१२१/६

बाजार में मिलने वाली बहुत-सी दवाओं के साथ जो पर्ची होती है उसमें लिखा रहता है कि 'यह दवा चिकित्सक के परामर्श से लें। इसका अर्थ है कि बिना चिकित्सक के परामर्श के भी कभी-कभी दवा लाभ पहुँचा देती है, पर कभी-कभी बहुत हानि भी कर देती है। अतः वैद्य के अनुसार रोग और दवा का निर्णय उचित माना जाता है। साधना का भी सत्य यही है। गुरु जो बताए उस मार्ग पर विश्वासपूर्वक चलकर साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

रावण अपने आपको सबसे अधिक बुद्धिमान् मानता है। उसे इसका अहं भी है, अतः वह किसी की बात नहीं मानता। हनुमान्जी रावण के रोग को समझ गये। अतः उन्होंने रावण के हित के लिये जब दवा बताई, तो सुनकर वह व्यंग्यपूर्वक हँसने लगा—

मिला हमहि कपि बड़ गुर ग्यानी।

"एक बन्दर ही गुरु बन रहा है!" रावण तो अपने से बढ़कर योग्य किसी को मानता ही नहीं। इस सन्दर्भ में मैं एक संस्मरण नहीं भूल पाता।

एक सज्जन जब विद्यार्थी थे, तो पाठ्य पुस्तकों के साथ-साथ अन्यान्य विषयों के ग्रन्थों को भी पढ़ने का उन्हें शौक था। एक बार उन्होंने एलोपैथी चिकित्सा का एक ग्रन्थ पढ़ा। पढ़कर उनके सामने एक समस्या आ गयी। उसके एक अध्याय में जिस रोग के लक्षणों का वर्णन था, उन्हें लगा कि वह रोग तो उनमें ही विद्यमान् है।

वे घबराकर डॉक्टर के पास पहुँचे। और यह बताने के लिये कि 'मैं ऐसा-वैसा रोगी नहीं हूँ, एलोपैथी का मैंने अध्ययन किया है,' अपनी तकलीफ न बताकर एक रोग का नाम बताकर कहने लगे कि मुझे यह

रोग हो गया है। सुनते ही डॉक्टर हँसकर लोट-पोट हो गया। उन्होंने पूछा—"मैं रोग की बात कर रहा हूँ, पर आपको हँसी क्यों आ रही है?" डॉक्टर ने कहा कि 'हँसी इसलिये आ रही है, क्योंकि जिस रोग का नाम तुम ले रहे हो वह तो केवल स्त्रियों को होता है, पुरुषों को नहीं। तुमने उसके लक्षण तो पढ़े पर यह नहीं पढ़ा कि यह रोग किसको होता है।'

इसका अर्थ है कि जैसे वैद्य पर ही रोग और दवा के निर्णय का भार होना चाहिए वैसे ही मानसिक रोग के निदान और उसे दूर करने के उपाय के लिये गुरु का ही आश्रय लेना चाहिए। इसीलिये भगवान् राम कहते हैं कि 'गुरु के चरणों की अमान भाव से सेवा करना मेरी तीसरी भक्ति है।'

॥बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय॥

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

चतुर्थ प्रवचन

भगवान् श्रीराम शबरीजी के समक्ष नवधा भक्ति का जो उपदेश देते हैं उसमें वे **'गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान'** के रूप में तीसरी भक्ति का निरूपण करने के बाद चौथी भक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।

'जो व्यक्ति कपट छोड़कर मेरे गुणों का गायन करता है वह अपने जीवन में भक्ति के चौथे रूप को पा लेता है।' इसमें प्रयुक्त दो शब्दों **'कपट तजि'** और **'गान'** में भक्ति साधना का तत्त्व छिपा हुआ है।

गान सबको प्रिय होता है। भक्तों के द्वारा गाए जाने वाले भक्तिपूर्ण पदों को सुनकर आनन्द की अनुभूति होती है। भगवान् के गुणों का भक्ति भावना के साथ गायन करना ही सही अर्थों में गायन कहा जा सकता है। भगवान् दूसरी भक्ति के रूप में कथा-प्रसंग में प्रेम की बात कहने के बाद जब यह कहते हैं 'कपट छोड़कर मेरे गुणों का गायन करना मेरी चौथी भक्ति है', तो प्रश्न उठता है कि 'कथा' और 'गायन' इन दोनों में कोई भेद है क्या?

'मानस' में कथा और गायन दोनों का बार-बार उल्लेख किया गया है। दोनों ही भगवान् के लीला, चरित्र और गुणों से सम्बद्ध हैं पर दोनों में एक अन्तर है। कथा में यद्यपि मन और बुद्धि दोनों का महत्त्व है पर इसमें बुद्धितत्त्व की प्रधानता होती है क्योंकि इसमें भगवत्चरित्र का विश्लेषण कर उसे समझने-समझाने का प्रयास किया जाता है। गायन की वृत्ति आनन्द से जुड़ी हुई है। आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति गायन के माध्यम

से बहुधा की जाती है। इसमें संगीत का भी समावेश हो सकता है। भगवत्चरित्र से आनन्द की प्राप्ति की दृष्टि से गायन और प्रभु के लीला-चरित्रों को समझने, जानने के लिये कथा का आश्रय लिया जाता है।

कथा में श्रोता और वक्ता दोनों की जागरूकता आवश्यक है। कई बार वक्ता समझाने का प्रयास करता है पर श्रोता नहीं समझ पाता। कई श्रोता तो सोते हुए भी दिखाई देते हैं। वक्ता यदि चुटकुले या हँसी-मजाक की बात कहे तो श्रोता सुन भी लेते हैं, पर यदि कोई गम्भीर विश्लेषण हो तो बहुत से लोग सोचने लगते हैं कि 'ये क्या कह रहे हैं?' और वे उसे नहीं सुनते। गोस्वामीजी इसे दृष्टिगत रखकर एक व्यंग्यात्मक बात कहते हैं।

माघ के महीने में गंगास्नान का बड़ा महत्त्व बताया गया है। 'मानस' में कहा गया है कि–

माघ मकरगत रवि जब होई।
तीरथ पतिहिं आव सब कोई॥१/४३/३

गोस्वामीजी कहते हैं कि किसी व्यक्ति ने यह बात सुनी और वह भी गंगास्नान के लिये प्रयाग पहुँच गया। पर जब उसने माघ माह की ठण्ड देखी तो ठण्डे जल में प्रवेश कर गोता लगाने का साहस ही नहीं जुटा पाया और डर के मारे वापस लौट आया। लोगों ने पूछा–"स्नान कैसा रहा?" अब वह क्या बताए? कहने लगा–"बड़ा अच्छा रहा!" अब इसी तरह लोग कथा में आ तो जाते हैं, पर जाड़ा इतना लगता है कि सुनते ही नहीं। 'यह जाड़ा क्या है?' यह बताते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि–

जड़ता जाड़ विषम उर लागा।
गयहुँ न मज्जन पाव अभागा॥१/३८/२

बुद्धि की जड़ता का जाड़ा लगने पर व्यक्ति कथा में पहुँचकर भी कथा नहीं सुन पाता।

इसका अर्थ है कि कथा का मुख्य तत्त्व मन नहीं बुद्धि है। मन का महत्त्व वैसे तो सर्वत्र है। उसके बिना न सुनाई देगा और न रस ही आएगा। अब यदि वक्ता का भी उद्देश्य मनोरंजन है तब तो ठीक हो जाएगा। गोस्वामीजी ने कहा भी है कि–

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥
श्रवनवंत अस को जग माहीं।
जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं॥७/५२/४,५

भगवान् की कथा सुनने वाले को अच्छी तो लगेगी ही, पर विषयी मन से सुनता है अतः उसका मनोरंजन होता है, और साधक मन के साथ बुद्धि से सुनता है। साधक का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं होता।

रामचरितमानस में भगवान् राम के तीन रूपों का वर्णन है–ज्ञेय, ध्येय और अनुकरणीय। ज्ञेय का अर्थ है उनको जानना कि वे कौन हैं? उनका स्वरूप क्या है? ध्येय का अर्थ है उनके चरित्र से प्रेरणा लेकर, शिक्षा लेकर उनको अपने जीवन में व्यवहार में लाना।

भगवान् राम को जानने के लिये इतिहास की दृष्टि से उनके विषय में पढ़-सुन लेना ही यथेष्ट नहीं है। भगवान् राम क्या एक राजा अथवा एक उच्च चरित्र वाले व्यक्ति मात्र हैं? जो ऐसा मानते हैं वे मानने में स्वतन्त्र हैं। पर जब तक उन्हें सही अर्थों में नहीं समझा जाय, तो उनसे जो पूरा-पूरा लाभ मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाएगा। उन्हें तत्त्वतः जानने की आवश्यकता है। इसके लिये मैं एक दृष्टान्त दे दूँ!

आज यदि कोई आभूषण खरीदने जाता है तो उसे बाजार में सभी गहने अत्यन्त आकर्षक लगते हैं। क्योंकि इस दिशा में बहुत अधिक कलात्मक विकास हो गया है। पर आकर्षक कलात्मकता से युक्त होने पर भी खरीदने वाले के लिये इस बात का महत्त्व सबसे अधिक होता है कि वे आभूषण किस धातु के बने हैं।

आगरा के एक आभूषण-बाजार से मैं गुजरा तो कुछ दुकानों की तख्तियों पर जो कुछ लिखा हुआ था, उसे पढ़कर मुझे हँसी आ गयी। उन तख्तियों पर लिखा हुआ था–'सोने से कम नहीं, खो जाय तो गम नहीं।' अर्थात् वे गहने दिखने में भले ही सोने के समान प्रतीत हों, पर सोने के नहीं थे। वे असली नहीं नकली थे। गोस्वामीजी बताते हैं कि हमारे भगवान् राम ऐसे आभूषण नकली की तरह नहीं हैं। वे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। गोस्वामीजी इस बात पर बार-बार बल देते हुए कहते हैं कि यदि आपने श्रीराम को जाना नहीं तो जो कुछ किया वह व्यर्थ

का श्रम ही कहा जाएगा। तत्त्वतः भगवान् राम को जानना ही ज्ञान है। भगवान् शंकर पार्वतीजी से यही कहते हैं कि–

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।

सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥१/११८

भगवान् राम वेद और मुनियों के परमाराध्य ब्रह्म हैं।

ज्ञान के बाद भी एक और महत्त्वपूर्ण बात सामने दिखाई देती है। सभी आभूषणों की मूल धातु स्वर्ण ही है, यह जान लेने के बाद भी अलग-अलग व्यक्ति भिन्न-भिन्न आभूषणों के प्रति आकृष्ट होते हैं। यह रुचि की भिन्नता के कारण होता है। किसी को एक वस्तु (बनावट या आकृति) अच्छी लगती है तो दूसरे को उससे भिन्न दिखने वाली वस्तु सुन्दर लगती है। इसी प्रकार तत्त्वतः जान लेने पर भी भक्त ब्रह्म को अपनी रुचि और भावना के अनुरूप ही देखना चाहता है। और भगवान् भी भक्त की भावना के अनुसार वह रूप स्वीकार कर लेते हैं। मनु-शतरूपा के प्रसंग में यही बात आती है।

भगवान् की प्राप्ति के लिये महाराज मनु तपस्या करने के लिये वन में जाते हैं तो उनके साथ महारानी शतरूपा भी जाती हैं। गोस्वामीजी उन्हें ज्ञान और भक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर प्रभु प्रकट होते हैं और पहले मनुजी से वरदान माँगने के लिये कहते हैं। उनके वरदान माँग लेने के बाद वे शतरूपाजी से भी माँगने के लिये कहते हैं–

देबि माँगु बर जो रुचि तोरे।

'हे देवि! आपको जो अच्छा लगे, आप भी वह माँग लीजिए।'

पूछा जा सकता है 'जब दोनों साथ-साथ आए हैं, एक साथ, एक समान कठिन तपस्या की है, तो जो माँग मनुजी की है, वही शतरूपाजी की भी होनी चाहिए? पर भगवान् मानो बताना चाहते हैं कि साथ-साथ आने और तत्त्वतः जान लेने पर भी यह आवश्यक नहीं कि ज्ञान और भक्ति की रुचि भी एक ही हो। और सचमुच रुचि में जो भिन्नता थी, वह सामने आ गयी।

महाराज मनु ने कहा था कि 'आप मेरे पुत्र बनिये और मैं चाहता हूँ कि जीवनभर आपके प्रति पुत्रभाव ही बना रहे।' शतरूपाजी ने

कहा–"महाराज! आप पुत्ररूप में प्राप्त हों, यह तो मैं भी चाहती हूँ, पर साथ ही मैं यह भी चाहती हूँ कि आपको अपना पुत्र ही न मान बैठूँ। प्रभु! आप मुझे वह ज्ञान भी दीजिए कि जिससे आपके तत्त्व-स्वरूप का विवेक बना रहे।"

इसका अभिप्राय है कि **ज्ञान का अर्थ है ब्रह्म को जानना कि 'ब्रह्म कैसा है?' और भक्ति का अर्थ है–'जैसा हम उसे चाहते हैं, जिस रूप में उसे पाना या देखना चाहते हैं।'** ब्रह्म को तत्त्वमय, ज्ञानमय रूप में जानने की आकांक्षा बहुत कम लोगों में होती है। भगवान् का ध्येय रूप परम् भावमय रूप है। भावना की तन्मयता और रुचि में जो सम्बन्ध है वही ज्ञान या भक्ति की दिशा का नियमन करता है। भगवान् के चरित्र की चर्चा करते समय अनुकरणीयता की बात सबसे अधिक कही-सुनी जाती है। अधिकांश वक्ता यही भाषण देते हैं कि श्रीराम की कोरी पूजा करने से क्या होगा? आप राम के समान बनिये।

अनुकरणीय राम का अर्थ है कि उनके चरित्र को व्यवहार में लाना। अब यह बात भाषण में कहना बड़ा सरल है और सुनने में भी बड़ा सारयुक्त लगता है। पर सचमुच जीवन में भगवान् राम के चरित्र का अनुकरण करना सरल है क्या? केवल कह देने से अनुकरण हो जाएगा क्या? जो ऐसा कहते हैं उनसे पूछा जा सकता है कि 'आपने अनुसरण कर लिया है क्या? आप राम बन गये हैं क्या?' इस सन्दर्भ में मुझे ब्रह्मलीन घनश्यामदास जी बिरला का कथन स्मरण आता है। एक बार उन्होंने यहीं (श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर) कहा था कि 'भगवान् श्रीराम का चरित्र तो कोई व्यक्ति अपने जीवन में नहीं उतार सकता। सचमुच, यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है।

भगवान् राम पिता की आज्ञा से वन चले गये, भाई के लिये उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया। अब इनके अनुसरण की बात कहना जितना सरल है, पालन करना उतना ही कठिन है। जीवन में यह वृत्ति कैसे आए? चौथी भगति में इसी की ओर संकेत किया गया है।

अनुकरण भाषण से नहीं होगा, केवल बुद्धि से नहीं होगा, उसके लिये पहले भगवान् राम के गुणों का चिन्तन करना होगा। **'ध्येय राम'**, अर्थात् इस उद्देश्य का निरन्तर स्मरण रखना कि 'मुझे ऐसे बनना है' यह

आवश्यक है। निरन्तर उनके गुणों का चिन्तन, स्मरण, ध्यान और गायन करने से उनकी एक झलक व्यक्ति के जीवन में, व्यवहार में प्रकट हो सकती है। भगवान् के गुण और चरित्र तो अनन्त हैं। व्यक्ति के लिये क्या यह सम्भव है कि वह इन्हें पूरी तरह से अपने जीवन में साकार कर सके? इसलिये भगवान् राम कहते हैं कि–

चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।

'कपट छोड़कर मेरे गुणों का गायन करना चाहिए।'

आजकल गायन-कथा का बड़ा प्रचार दिखाई देता है। मेरे परिचित एक सज्जन जो पहले प्रवचन करते थे, आजकल आर्केस्ट्रा-पार्टी के साथ संगीतमय कथा करने लगे हैं। अपने इस विधा-परिवर्तन की व्याख्या करते हुए वे कहने लगे कि 'कथा कहने की दो पद्धतियाँ हैं–एक नारदीय और दूसरी व्यास। कथा कहना व्यास पद्धति है और गायन करना नारदीय पद्धति है। मैंने अब व्यास पद्धति छोड़कर नारदीय पद्धति ग्रहण कर ली है।' मैंने उनसे विनोद में कहा–''नारदजी ने जैसा गायन किया था, कहीं वैसा संगीत-गायन तो आप नहीं करते?''

नारदजी के प्रसंग में गायन और संगीत से जुड़ी एक बड़ी मनोवैज्ञानिक बात आती है। भगवान् के गुण-गायन में व्यक्ति का ध्यान किस ओर होना चाहिए? यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस प्रसंग को किसी पर आक्षेप की दृष्टि से न देखकर सही अर्थों में ही लेना चाहिए।

नारद देवर्षि हैं और भगवान् के चौबीस अवतारों में उनकी गणना होती है। वर्णन आता है कि एक बार वे हिमालय की उपत्यका में भगवान् के ध्यान में ऐसे तदाकार हुए कि–

सुमिरत हरिहि काल गति बाधी।

उनको जो यह शाप था कि 'वे एक स्थान पर दो घड़ी से अधिक नहीं ठहर सकते', वह अप्रभावी हो गया। इसका अर्थ है कि **प्रभु के ध्यान से काल और शाप दोनों ही गतिहीन और शक्तिहीन हो जाते हैं।**

उस समय नारदजी की विलक्षण स्थिति को जब इन्द्र ने देखा तो उसे सन्देह हो गया–'ये कहीं स्वर्ग को पाने के लिये ही तो तपस्या नहीं कर रहे हैं?' इन्द्र ने काम को भेजा। काम ने अपनी समस्त कलाओं का प्रदर्शन किया पर नारदजी पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। काम भयभीत

होकर नारदजी के चरणों में गिर पड़ा–''देवर्षि! आप मुझे क्षमा करें! मुझसे बहुत बड़ा अपराध हो गया! पर मैंने आपके मन को विचलित करने का जो यत्न किया, उसमें मेरा कोई दोष नहीं है। ऐसा तो मैंने इन्द्र की आज्ञा से किया था।''

नारदजी ने बड़ी उदारता से काम को क्षमादान देते हुए कहा–''मैं जानता हूँ इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। मैं तुमसे नाराज नहीं हूँ, तुम निश्चिन्त रहो!'' काम ने नारदजी को प्रणाम किया और भगवान् की महिमा का ध्यान करते हुए वहाँ से चला गया। काम तो चला गया पर नारदजी के चिन्तन में एक परिवर्तन आ गया। वे सोचने लगे–'आज मैंने जो कार्य किया है, ऐसा इतिहास में पहले किसी ने किया है या नहीं?' लोग इतिहास में अपना स्थान बनाने के लिये बहुत उत्सुक रहते हैं।

मेरे स्नेही-सुधी सज्जनों ने एक ग्रन्थ छपाया है जिसका नाम है–तस्मै श्री गुरवे नमः। मैंने उस ग्रन्थ को पहले नहीं देखा था। अतः मुझे दिखाने के बाद मुझसे यह भी पूछा गया कि 'आपको यह ग्रन्थ कैसा लगा?' मैंने उनसे यही कहा कि यह ग्रन्थ बहुत से लोगों को दुःख देगा।'

–''दुःख क्यों देगा?''

मैंने कहा–''दुःख इसलिये देगा क्योंकि अधिकांश लोग इसमें मुझे नहीं, स्वयं को ढूँढ़ेंगे कि उनका नाम इसमें आया है कि नहीं? और आया है तो कितना आया है? बहुत से लोग जब यह देखेंगे कि इतने बड़े पोथे में उनकी चर्चा ही नहीं है तो वे सबके सब दुःखी हो जाएँगे।'' इसलिये यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्ति वास्तव में चाहता क्या है।

नारदजी सोचने लगे–''मैंने कितना बड़ा कार्य किया है!'' उन्होंने काम, क्रोध और लोभ तीनों को तो जीत लिया पर उनमें अभिमान आ गया। लेकिन **अभिमान का एक स्वभाव है। वह अकेले रहना कभी पसन्द नहीं करता। वह चाहता है कि कोई न कोई उसके पास हो जिससे तुलना कर वह अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर सके।** इसलिये विद्वता का अभिमान मूर्ख की खोज करता है, धनी निर्धन की और बलवान् निर्बल को ढूँढ़ता है। नारदजी भी मन ही मन ऐसे पात्र की खोज में लग गये जो इस क्षेत्र में उनसे न्यून सिद्ध हो सके।

नारदजी ने सोचा अपनी विजयगाथा किसको सुनाएँ? गुरुजी के पास

यह ठीक है कि भक्त भी गाते हैं और हमारे देश में संगीत के पण्डितों ने समय के अनुकूल गाए-बजाय जाने वाले रागों का वर्गीकरण भी किया है। पर सत्य तो यही है कि भक्तों का सबसे बड़ा राग तो 'अनुराग' ही है। गोस्वामीजी कहते हैं–

गावत रामचरित मृदु बानी।
प्रेम सहित बहु भाँति बखानी॥३/४०/६

भक्तगण तो प्रेमपूर्ण हृदय से भगवान् के चरित्र का गायन करते हैं। पर नारदजी के गायन में संगीत और गायन का रस तो था, भगवद् प्रेम का रस नहीं था।

नारदजी के पहुँचने पर भगवान् ने उनका स्वागत किया और बोले–

बहुते दिनन कीन्हि मुनि दाया।

"मुनिवर! बहुत दिनों बाद आपने पधारने की कृपा की।" नारदजी तो चाहते ही थे कि प्रभु देरी से आने का कारण पूछें। नारदजी ने अपनी काम-विजय की बात विस्तार से बता दी। भगवान् ने नारदजी की प्रशंसा करते हुए कहा–

ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा।
तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा॥१/१२८/२

"आप तो ब्रह्मचारी हैं, भला आपको काम विचलित कर सकता है?"

नारदजी ने सोचा–'प्रभु मेरी प्रशंसा कर रहे हैं तो मुझे भी उनकी प्रशंसा करनी चाहिए।' नारदजी ने जो कहा वह भाषा तो भक्तों की है, पर भक्ति उसमें नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं कि–

नारद कहेउ सहित अभिमाना।
कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥१/१२८/३

नारदजी की वाणी से बाहर चाहे जो भी शब्द निकल रहे हों, पर उनके अन्तर्हृदय में तो अभिमान ही विद्यमान् है। यह तो साधना, तपस्या, गायन-कला व वाणी सबका दुरुपयोग है। यह भक्ति नहीं है इसीलिये भगवान् नवधाभक्ति का निरूपण करते हुए उनमें से पहली भक्ति को छोड़कर प्रत्येक भक्ति के साथ एक शर्त लगा देते हैं। वे कहते हैं कि–

प्रथम भगति संतन कर संगा।
दूसर रति मम कथा प्रसंगा॥३/३४/८

प्रथम भक्ति सत्संग है पर दूसरी भक्ति मात्र कथा सुनने से सिद्ध नहीं होगी, अपितु कथा में प्रेम होना भी आवश्यक है। तीसरी भक्ति में शर्त है कि गुरु के चरणों की सेवा करें पर अभिमान रहित होकर करें। चौथी भक्ति में भी एक शर्त है कि भगवद् गुण गान करें तो कपटपूर्वक नहीं, कपट त्याग कर करें।

भगवान् के गुणों का गायन करते समय यदि कोई भगवद् गुणों में तदाकर होने के स्थान पर यह देखना चाहता हो कि 'यह श्रोताओं को कैसा लग रहा है? वे झूम रहे हैं या नहीं? ताली बजा रहे हैं या नहीं?' और इस प्रकार यदि वक्ता श्रोताओं की मुग्धता पर तदाकार हो रहा है तो फिर यह तो भक्ति नहीं, उसका दिखावा मात्र है। वस्तुतः भगवान् के चरित्र का गायन तो कपट छोड़कर करना ही कल्याणकारी है। इस प्रकार गायन कला की प्रमुखता से युक्त नारदजी का एक स्वरूप सामने आता है। पर नारदजी की इस कला-प्रवीणता के उपसंहार के लिये कौतुकी प्रभु एक लीला करते हैं और नारदजी का अभिमान दूर हो जाता है। 'मानस' में नारदजी का एक रूप और भी दिखाई देता है।

सीताजी के वियोग में भगवान् राम रुदन करते हुए वन-वन भटक रहे हैं। नारदजी सोचते हैं कि प्रभु मेरे शाप को स्वीकार करने के कारण ही इतना अधिक दुःख पा रहे हैं। उनके इस स्वरूप का दर्शन अवश्य करना चाहिए। वे प्रभु से मिलने के लिये चल पड़ते हैं। पर इस बार नारदजी का एक दूसरा रूप सामने आता है। उनमें न तो अभिमान है और न ही कपट।

इस यात्रा में भी वे भगवान् के पदों का गायन करते हुए चल रहे हैं, वही पद, वही वाणी और वही बीणा–

यह बिचारि नारद कर बीना।
गये जहाँ प्रभु सुख आसीना॥३/४०/८

पर सब कुछ वही होने पर भी एक अन्तर है–

गावत राम चरित मृदु बानी।
प्रेम सहित बहु भांति बखानी॥३/४०/६

नारदजी पहली बार कला-प्रदर्शन के लिये गा रहे थे, पर अब भगवान् के गुणों को भीतर हृदय में अनुभव करते हुए प्रेमपूर्वक गायन कर रहे हैं।

भगवान् की भक्ति, कथा और गायन दोनों ही रूप-विधाओं में की जा सकती है। कथा परम कल्याणकारी है। भगवान् शंकर स्वयं कथा कहते-सुनते हैं। भुशुण्डिजी कथा कहते हैं। स्वयं भगवान् राम सुनते भी हैं और कहते भी हैं। और जब मंगल के अवसर होंगे तो गायन भी होंगे। भगवान् राम का जब जन्म होता है उस समय गोस्वामीजी कहते हैं कि—

यह चरित जे गावहिं हरि पद पावहिं,

कौसल्या अम्बा बालक राम को देखती हैं तो—

सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान।१/२००

विवाह के अवसर पर भी गान होगा ही। किसी श्रद्धालु ने मुझे विवाह में बुलाया। वहाँ लोगों ने मुझसे कहा—"थोड़ा प्रवचन हो जाय!" मैंने कहा कि विवाह में प्रवचन नहीं होता, गीत गाए जाते हैं। आनन्द के अवसर पर अनुराग रस से प्रभु के गुणों का गायन प्रभु की प्रसन्नता के लिये करें, यही प्रभु-भक्ति है।

विवाह के प्रसंग में तो दोहरा लाभ है। प्रभु के गुणों का गायन ही नहीं, गाली-गायन भी कीजिए। 'मानस' में जनकपुर की सखियाँ—

करहिं गान कल मंगल बानीं।१/३१७/८

मंगल गीत तो गाती ही हैं, पर बारातियों के भोजन के अवसर पर—

जेवँत देहिं मधुर धुनि गारी।१/३२८/६

मधुर स्वर से गाली के गीत भी गाती हैं। भगवान् शंकर के विवाह में भी—

गारी मधुर स्वर देहिं सुंदरि बिंग्य बचन सुनावहीं।१/९८/छंद

स्त्रियाँ गाली-गीत गाती हैं। पर गायन में अन्तःकरण में अनुराग होने पर ही वह गायन, भक्ति है अन्यथा उसका कोई महत्त्व नहीं है। इसका अर्थ है कि जिसकी जैसी रुचि हो उसके अनुरूप विवेकपूर्वक कथाश्रवण करके अथवा भगवान् के गुणों का प्रेमसहित गायन करके वह भगवान् की भक्ति प्राप्त कर सकता है।

॥बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय॥

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

पंचम प्रवचन

भगवान् राम शबरीजी के समक्ष नवधाभक्ति का उपदेश देते हुए पाँचवीं भक्ति का निरूपण करते हुए कहते हैं कि—

मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥३/३५/१

'दृढ़ विश्वास के साथ मेरे मन्त्र का जप करना, भजन करना यह मेरी पाँचवीं भक्ति है।' यह पाँचवीं भक्ति नवधा भक्ति के मध्य में, केन्द्र में स्थित है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि जैसे शरीर का प्रत्येक अंग-प्रत्यंग उपयोगी है, पर प्राण के बिना अंग-प्रत्यंग सक्रिय नहीं रह सकते, ठीक इसी प्रकार से यह पाचवीं भक्ति नवधाभक्ति रूपी कलेवर का मानो प्राण ही है।

इसमें प्रयुक्त दो शब्द **दृढ़** और **विश्वास** बड़े महत्त्व के हैं। जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल घटनाएं तो घटती ही रहती हैं। सामान्यतया, हमारी इच्छा के अनुकूल जब होता है तो हम विश्वासी बन जाते हैं और जब हमारी इच्छा के प्रतिकूल कुछ घटता है तो हमारा विश्वास डिगने लगता है। पर प्रभु विश्वास के साथ एक शब्द और जोड़ते हुए कहते हैं—'दृढ़ विश्वास'। ऐसा विश्वास जो किसी स्थिति में न टूटे।

कल की जो घटना हुई उसे लेकर एक आशंका-सी हो गयी थी कि गिरने से मेरी हड्डी न टूट गयी हो! मैंने श्रीमती सरलाजी से यही कहा था कि 'हड्डी भले ही टूट जाय, विश्वास नहीं टूटना चाहिए।' प्रतिकूलता और अनुकूलता को लेकर मैंने पहले दिन जो हरि इच्छा और हरिकृपा की बात कही थी उसमें भी विभाजन की रेखा इतनी सूक्ष्म

निकली कि जो हरि इच्छा-सी लग रही थी उसे प्रभु ने हरिकृपा ही बना दिया। प्रभु ने सोचा होगा कि 'यह परीक्षा लेने योग्य नहीं है, अतः इसे परीक्षा में डालना उचित नहीं होगा।' वस्तुतः जीव के पास विश्वास बिल्कुल नहीं होता, प्रभु स्वयं कृपा करके जीव के विश्वास की रक्षा करते हैं। गोस्वामीजी भक्ति के सन्दर्भ में विश्वास की दृढ़ता को अत्यधिक महत्त्व देते हैं।

उत्तरकाण्ड में जब गरुड़जी भुशुण्डिजी से प्रश्न करते हैं कि 'भक्ति पाने का क्रम क्या है?' तो भुशुण्डिजी इसका बड़ा सुन्दर उत्तर देते हुए विश्वास की आवश्यकता पर बल देते हैं।

भगवान् की महिमा-वर्णन में जब लोग यह सुनते हैं कि विश्वास फलदायी होता है, तो वे यह मानकर कि 'मेरा भी भगवान् में विश्वास है' सन्तुष्ट हो जाते हैं। पर काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि विश्वास के भी दो रूप हैं। एक तो माना हुआ विश्वास और दूसरा जाना हुआ विश्वास। प्रारम्भ में तो विश्वास माना हुआ ही होता है, लेकिन उसमें दृढ़ता तब आती है जब जानने के बाद उस माने हुए विश्वास की पुष्टि हो जाती है। जैसे किसी नगर का नाम व वर्णन सुनने के बाद उसे स्वयं देखकर व्यक्ति आश्वस्त और आनन्दित होता है, उसी तरह स्वानुभूति से सुनी हुई बात पर उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है। इसीलिये दृढ़ विश्वास की बात की पुष्टि के लिये कहा जाता है कि–

यह सब मैं निज नयनन्हि देखी।

यह सुनी-सुनाई बात नहीं है, मैंने स्वयं इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। इस प्रकार भक्ति के लिये 'जानने' की आवश्यकता है। फिर 'जानना क्यों आवश्यक है?' यह बताते हुए कहते हैं कि–

जानें बिनु न होइ परतीती।७/८८/७

बिना जाने तो प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि आज का माना हुआ विश्वास, पता नहीं कल रहे या नहीं? और दृढ़ विश्वास के अभाव में प्रीति नहीं हो सकती–

बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।७/८८/७

फिर भुशुण्डिजी कहते हैं कि प्रीति से ही भगवान् की दृढ़ भक्ति प्राप्त होती है।

प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥७/८८/८

इसके लिये उन्होंने जो दृष्टान्त दिया है उसका अनुभव हम सब करते हैं। शरीर में पानी डाल देने से तत्काल गीलेपन का अनुभव होगा, पर वह क्षणिक है। कुछ देर बाद पानी सूख जाने पर पुनः शुष्कता आ जाएगी। पर पानी के स्थान पर शरीर में तेल लगा लिया जाय, जिसे संस्कृत में स्नेह कहते हैं, तो स्नेह-लेपन के बाद शरीर शुष्क नहीं होगा। इसी प्रकार प्रीति के अभाव में भक्ति में दृढ़ता नहीं आ सकती। **साधक के जीवन में विश्वास की दृढ़ता ही भक्ति की दृढ़ता की कसौटी है।** गोस्वामीजी एक दोहे में नदी के जल के माध्यम से यही संकेत देते हैं। वे कहते हैं कि–

भक्ति भाव भादव नदी सबहिं चली घहराय।
सरिता वही सराहिए जो जेठ मास ठहराय॥

बरसात में तो चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देता है, पर जेठ के महीने में जिस नदी में जल विद्यमान् हो, वही प्रशंसनीय कही जाएगी।

दृढ़ विश्वास की तरह ही **'मन्त्रजाप'** शब्द भी बड़ा सांकेतिक है। हममें से बहुत से व्यक्ति जप करते हैं। क्रिया के रूप में जप करने से भी लाभ तो होता ही है। पर वास्तव में मन्त्रजाप का तात्पर्य क्या है?

हमारे निरुक्तिकार, व्युत्पत्तिकार कहते हैं कि–

मननात् त्रायते इति मन्त्रम्।

जो मनन करने पर जप करनेवाले की रक्षा करे उसका नाम मन्त्र है। जप करने में मन्त्र की आवृत्ति तो होगी ही, पर मनन का तात्पर्य है उस मन्त्र के अर्थ को हृदयंगम करना। 'अर्थ' से यदि शब्दार्थ ले लिया जाय और एक शब्द के बदले उसका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय, तो यह सही नहीं है। अधिकांश लोग यही समझते हैं, पर यह भ्रमपूर्ण है।

किसी से पूछा जाय कि 'पाटल माने क्या?' और यदि वह कह दे 'गुलाब', तो पूछनेवाला क्या समझेगा? उसकी स्थिति जैसे पहले थी, अब भी वैसी ही रही। क्योंकि पहले उसके मस्तिष्क में एक शब्द पाटल था, अब दूसरा शब्द 'गुलाब' आ गया।

एक व्यक्ति के सामने पढ़ते-पढ़ते एक शब्द आया 'मघवा'। इसका

अर्थ वह नहीं समझ पाया। अर्थ जानने के लिये वह एक बड़े पंडित के पास गया। 'मघवा' इन्द्र को कहते हैं। पंडितजी ने उसे बताया—"विडौजा!" पूछनेवाले ने सिर पीट लिया—'मघवा ही कठिन शब्द था, ये विडौजा कहाँ से आ गया?' 'गुलाब' का अर्थ पूछने पर यदि कोई उसके सामने गुलाब का फूल ला दे, तो फिर शब्द का अर्थ प्रकट हो जाएगा, अन्यथा शब्द के बदले शब्द ही रह जाएगा।

मन्त्र का अर्थ केवल पण्डितों से पूछकर जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। **जब आप जप करते हैं तो मन्त्र स्वयं अपना अर्थ प्रकट करता है।** यही अनुभव सही मन्त्रजाप से मिलनेवाला अद्भुत आनन्द है। नाम-वन्दना प्रसंग में गोस्वामीजी ने इसके कई दृष्टान्त दिए हैं।

हीरा और काँच का दृष्टान्त देते हुए वे कहते हैं कि 'यदि ये दोनों किसी ऐसे व्यक्ति के सामने रख दिए जाएँ जो पारखी न हो, तो उसे दोनों एक जैसे ही दिखने के कारण दोनों काँच ही प्रतीत होंगे। यद्यपि हीरे का मूल्य काँच से अनेकों गुना अधिक है, पर उसे काँच के रूप में जानने के कारण जो ज्ञानजनित आनन्द होता है उससे वह वंचित रह जाएगा।

पर अभी तक जिसे वह काँच समझ रहा था, किसी ने बता दिया कि यह तो हीरा है। अब यद्यपि वह वस्तु ज्यों की त्यों बनी रही पर इस ज्ञान से उस व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है। जप के लिये भी यही बात कही जा सकती है, अतः पहले जानने की आवश्यकता है।

राम मन्त्र में वर्णमाला के तीन वर्ण र, अ और म हैं। तो क्या इस मन्त्र में भी इनका उतना ही अर्थ है जितना कि वर्णमाला में है? इनका अर्थ उतना ही नहीं, कहीं अधिक है और गहरे अर्थों वाला है।

हीरे को उसके सही अर्थ में जान लेने के बाद आनन्द तो आया पर समस्या का समाधान नहीं हुआ। व्यक्ति यदि भूखा है, तो यह जान लेने के बाद कि उसके पास जो वस्तु है वह काँच नहीं हीरा है, उसकी भूख नहीं मिट पाएगी। इसके लिये उस हीरे को मूल्य के रूप में बदलना होगा और उस मूल्य के बदले व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। यही बात ब्रह्म के सन्दर्भ में कही जा सकती है।

'मानस' में कहा गया है कि प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में ब्रह्म का

निवास है, पर ऐसा होने पर भी जीव दीन है, दुःखी है—

अस प्रभु हृदयँ अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥१/२२/७

ऐसा क्यों? जीव ने सुन रखा है कि ब्रह्म उसके भीतर है, पर क्या वह इसकी अनुभूति करता है? अब जिस दिन उसे यह ज्ञान प्राप्त होगा, उस दिन उसे ज्ञानजन्य आनन्द भी प्राप्त होगा। पर ऐसा होने पर भी परिणामजन्य सुख तो उसे भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होगा। कहा जा सकता है कि भक्ति के द्वारा वह ब्रह्म को मूल्य रूप में परिणत कर लेता है और जैसे हीरे को मूल्य के रूप में बदलने के बाद व्यवहार के लिये आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं, उसी तरह ब्रह्म को भी मूल्य रूप में पाकर व्यक्ति संसार में जो व्यवहार करता है, वही मानो कर्म है। इस प्रकार मन्त्र में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों अद्भुत रूप से समन्वित हैं, विद्यमान् हैं।

प्रकट-अप्रकट होना, न होना तथा पहले क्या था और आगे क्या होगा? इन बातों पर खोज और चिन्तन की प्रक्रिया अपने-अपने ढंग से लोग करते रहते हैं। सृष्टि-निर्माण के विषय में आधुनिक विज्ञान की धारणा भले ही भिन्न हो, पर इस सन्दर्भ में यह कल्पना तो की ही जाती है कि पहले ऐसा भी तो होगा, जब सृष्टि नहीं रही होगी! वैसे अधिकांश लोगों को पीछे की नहीं, आगे की चिन्ता ज्यादा रहती है। यदि कह दिया जाय कि अगले साल प्रलय होनेवाला है, तो लोग उसके निवारण के लिये पूजा-पाठ और यज्ञ करना चाहते हैं। **व्यक्ति चिन्तन नहीं, चिन्ता करने का अभ्यस्त हो गया है।** इस प्रक्रिया को पहले हृदयंगम करने की चेष्टा करनी चाहिए।

यह जो कहा जाता है कि ब्रह्म शाश्वत है, इसका अर्थ यह हुआ कि वह है तो, किन्तु प्रकट नहीं है, प्रत्यक्ष नहीं है। भगवान् राम के जन्म का अभिप्राय यह नहीं है कि उससे पहले वे नहीं थे और जिस प्रकार बालक जन्म लेता है, उसी प्रकार उनका भी जन्म हुआ। यद्यपि 'मानस' में जन्म और प्रकट इन दोनों शब्दों का प्रयोग करते हुए गोस्वामीजी जहाँ कहते हैं कि—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।१/१९१/छंद

भगवान् राम प्रकट हुए, वहाँ वे यह भी कहते हैं कि—

जोग लगन ग्रह वार तिथि सकल भए अनुकूल।
चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुखमूल॥१/१९०

भगवान् राम प्रकट हुए।

इन दोनों शब्दों के प्रयोग प्रष्टाका अर्थ यही है कि भले ही भगवान् राम जन्म लेते हुए दिखाई दें, पर तत्त्वतः विचार करने से ज्ञात होगा कि वे तो थे ही। पहले दिखाई नहीं दे रहे थे, अब दिखाई देने लगे। तब वे अन्तर्यामी थे, अब बाहर प्रकट हो गये।

मनुष्य के जीवन में इसी अन्तर और बाह्य की समस्या है। इसीलिये अनेक सम्प्रदायों का मत है कि मनुष्य को सुख और शान्ति की खोज बाहर नहीं अन्तर्जीवन में करनी चाहिए। कबीरदासजी भी यही कहते हैं कि—

मोको कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।
ना मन्दिर में ना मसजिद में ना काबे कैलास में॥

ईश्वर को बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है, वह तो तुम्हारे हृदय में है। पर गोस्वामीजी इससे अलग बात कहते हैं। उनको कहना होगा तो वे यही कहते कि—

वह मंदिर में वह मसजिद में वह काबा कैलास में।

ईश्वर तो सर्वत्र है। उनसे पूछा गया कि महाराज! फिर लोग उसे क्यों अलग-अलग स्थानों में ढूँढ़ रहे हैं? उन्होंने कहा कि—

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती।
प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥१/१८४/३

जिसका जहाँ जैसा प्रेम होता है, वहाँ वह उसी रूप में प्रकट हो जाता है। सभी मन्दिरों में उन्हीं देवताओं की ही प्रतिमाएँ होती हैं, पर अलग-अलग लोगों को भिन्न-भिन्न मन्दिरों में अधिक आनन्दानुभूति होती है।

जब मैं वृन्दावन में था तो लोगों को यही कहते सुनता था कि 'बिहारीजी ने सारे मन्दिरों को कंगाल बना दिया।' उनके कहने का अर्थ यही होता था कि सारे दर्शनार्थी बिहारीजी के मन्दिर में दर्शन करने के लिये उमड़ पड़ते हैं। वृन्दावन में अनेक मन्दिर हैं। क्या उनमें भगवान् कृष्ण नहीं हैं? पर लोगों को बिहारीजी के मन्दिर में जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसे ही खोजने के लिये वे वहाँ पहुँचना चाहते हैं। ईश्वर भले ही सर्वत्र हो, पर जिसने जहाँ उसे पाया उसके लिये वही स्थान ठीक

है। अतः यह कहने के स्थान पर कि 'आप उसे अन्यत्र मत ढूँढ़िए', यह कहना अधिक अच्छा होगा कि 'आपको जहाँ अच्छा लगे उसे वहाँ ढूँढिए।' जहाँ विश्वास हो, आनन्द मिले उसे वहाँ खोजिए।

पूछा जा सकता है कि 'जो अपने भीतर है उसे बाहर खोजना या देखने से दूरी नहीं हो जाएगी?' इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से समझ सकते हैं। आप शीशा क्यों देखते हैं? अपने आपको देखने के लिये न? आपको अपने आपको देखने की क्या आवश्यकता है? कहा जा सकता है कि शीशा देखने की प्रक्रिया में उलटा आपने अपने को स्वयं से भिन्न और दूर बना लिया! आप जहाँ हैं, शीशे में वहाँ से आप दूर दिखाई देते हैं या नहीं?

बच्चे यह जो आँख-मिचौनी का खेल खेलते हैं, वह क्या थोड़ा विचित्र-सा नहीं लगता? जो अच्छा-भला सामने खड़ा था उसे छिपने के लिये कहते हैं और फिर उसे ढूँढ़ते हैं। इसका अर्थ है कि कभी-कभी दूरी का भी आनन्द होता है। भगवान् कृष्ण की लीला में तो यह खेल बहुत होता है। इसे किसी कमी के रूप में लेना उचित नहीं है।

व्यक्ति जब अपने आपको शीशे में देखता है तो क्या उसमें कोई कमी आ जाती है? अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि व्यक्ति जितना अपने आपको सामान्य रूप में नहीं देख पाता, उससे अधिक शीशे में देख पाता है। अन्तर्यामी ईश्वर को बाहर खोजना कोई कमी नहीं है। भक्तों को इसमें बहुत आनन्द आता है। उनका प्रभु के साथ दूर-पास का, लुका-छिपी का खेल चलता ही रहता है।

वृन्दावन की लीला में एक बार भगवान् कृष्ण छिप गये और भक्तों से कहा—"मुझे ढूँढो!" सखा ग्वाल-बाल चारों ओर उन्हें ढूँढ़ने लगे। और फिर उन्हें पकड़ लिया। पूछा गया—"कैसे पता चला कि कन्हैया इसी दिशा में हैं?" उन्होंने बड़ी मधुर बात कही—

नाचि अचानक ही परे बिनु पावस वन मोर।

बच्चों ने देखा कि एक ओर मोरगण अचानक ही नाचने लगे। मोर वर्षाकाल में बादलों को देखकर ही नाचते हैं। सभी ग्वाल-बाल विचार करने लगे कि जिस दिशा में नाचते हुए मोरों का शोर सुनाई पड़ रहा है, उधर तो आकाश में बादल हैं ही नहीं। वे समझ गये कि वे तो घनश्याम श्रीकृष्ण को देखकर ही नाच रहे हैं—

नाचि अचानक ही परे बिनु पावस बन मोर।
जानि परत या दिसि करी नंदित नंदकिसोर॥

मानो यदि घनश्याम न दिखाई दें तो उन्हें उनके मोर रूपी भक्तों के स्वर में ढूँढे! वे उन्हीं के पास दिखाई दे जाएँगे। भगवान् स्वयं यह बात स्वीकार करते हुए कहते हैं कि–

मद् भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।

'मेरे भक्त जहाँ मेरा गायन करते हैं मैं तो वहीं उनके बिल्कुल निकट ही उपस्थित रहता हूँ।'

इसका अर्थ है कि जो निरन्तर प्राप्य है, उसे अप्राप्य बनाना और फिर उसे ढूँढ़ कर पुनः प्राप्त करना, यह प्राप्ति-अप्राप्ति का खेल भक्ति मार्ग में निरन्तर चलता रहता है। ईश्वर को एक बार पा लेने के बाद जहाँ कुछ और पाने की इच्छा नहीं रहती, वे ज्ञानमार्ग से पहुँचे हुए ज्ञानियों का लक्षण है। पर भक्ति-मार्ग के प्रेमी भक्तों को पाने-खोने और फिर पाने की लीला में ही आनन्द आता है। इसलिये जहाँ ज्ञान में एकरसता है, वहीं भक्ति में ऐसा नहीं है। भक्त कभी संयोग का आनन्द लेते हैं और कभी विरह में आँसू बहाते हैं। भक्तों के जीवन में आनन्द लेने का यही अनूठा ढंग है।

पूछा जा सकता है कि भगवान् का यह जो नाम तत्त्व है वह तो प्रकट है, फिर भी लोग नाम की महिमा क्यों नहीं जान पाते? इसका कारण इसकी सुलभता है। जो वस्तु सुलभ होती है, साधारणतया लोग उसका मूल्य नहीं समझ पाते। लोगों का यह स्वभाव बन गया है कि दुर्लभ वस्तु को, कठिनाई से मिलनेवाली वस्तु को ही मूल्यवान् मानते हैं।

किसी सज्जन ने एक महात्माजी से पूछा–"महाराज! क्या करें? कुछ साधना बताइए!" महात्माजी ने कहा–"रामनाम जपो।" उस व्यक्ति ने कहा–"महाराज! यह तो मैं पहले से ही जानता था, आपने क्या नयी बात बता दी?" लोगों को नयी बात चाहिए। नयी बात का जो रोग है यही नया वातरोग है। यह ठीक है कि नये का भी आनन्द होता है, पर जो पुरातन है उसका भी आनन्द क्या कोई न्यून है?

इसका अर्थ है कि यह जो नाम भगवान् हैं,-वे नित्य प्रकट हैं और भगवान् का जो रूप है, वह नित्य प्रकट नहीं है। इसलिये उसकी प्राप्ति बड़ी कठिन जान पड़ती है। त्रेतायुग में भगवान् को प्रकट करने के लिये

मनु-शतरूपा को न जाने कितनी कठोर साधना करनी पड़ी थी, तब कहीं जाकर भगवान् के दर्शन हुए। पर कलियुग में रूप भगवान् चाहे प्रकट न हों नाम भगवान् तो प्रकट हैं ही।

एक सन्त थे जिनके विषय में कहा जाता था कि उन्हें प्रभु-दर्शन प्राप्त था। उनसे किसी ने एक बार पूछा, "महाराज! भगवान् के दर्शन में क्रम क्या है? स्वप्न-दर्शन, प्रत्यक्ष-दर्शन या ध्यान-दर्शन।" साधारणतया लोग यही सोचते हैं कि स्वप्नदर्शन से ध्यानदर्शन अच्छा है और प्रत्यक्षदर्शन सबसे अच्छा है। पर बाबा ने ऐसा नहीं कहा। वे बोले–**"सबसे साधारण स्वप्नदर्शन है। प्रत्यक्षदर्शन उससे श्रेष्ठ है, पर ध्यानदर्शन से बढ़िया और कुछ नहीं हो सकता।"**

पूछनेवाला चौंक पड़ा–"ध्यानदर्शन, प्रत्यक्षदर्शन से भी कैसे श्रेष्ठ है?" बाबा ने कहा–"देखो! अगर ईश्वर प्रकट भी हो गया तो कितने समय के लिये प्रकट होगा? एक-दो मिनट के लिये दर्शन देकर अन्तर्धान हो जाएगा। पर ध्यान में दर्शन करनेवाला उसे चाहे जितनी देर तक पकड़े रह सकता है। यह तो ध्यान करनेवाले के ऊपर है कि वह जब तक चाहे दर्शन करता रहे।" 'मानस' के पुष्पवाटिका प्रसंग में यही बात आती है।

भगवान् गुरुदेव की आज्ञा से पूजा के लिये पुष्प लेने पुष्पवाटिका में आते हैं। उसी समय श्रीसीताजी भी अपनी सखियों के साथ गौरीपूजन के लिये वहाँ आती हैं। एक सखी भगवान् के दर्शन कर सीताजी के पास आकर प्रभु के बारे में जब सुनाती है तो सीताजी के मन में उत्कण्ठा जाग्रत् होती है। वे उस सखी को आगे कर भगवान् राम को देखने की व्याकुलता लिये उन्हें ढूँढ़ने चल पड़ती है। पर जहाँ सखी ने प्रभु को देखाथा वहाँ वे नहीं दिखाई पड़ते।

इसका अर्थ है कि यदि एक सन्त को भगवान् ने जहाँ पर दर्शन दिए हैं, दूसरों को भी वहीं पर दर्शन मिलेगा, ऐसा मान लेना ठीक नहीं है। सबके दर्शन के केन्द्र अलग-अलग हो सकते हैं।

भगवान् के न दिखाई देने पर सीताजी व्याकुल हो जाती हैं और उन्हें चारों ओर खोजने लगती हैं–

जहँ बिलोकि मृग सावक नैनी।
जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी॥१/२३१/२

उसके पश्चात्—

लता ओट तब सखिन्ह लखाए।१/२३१/३

सखियों ने दिखाया कि वे लता की ओट में हैं। फिर वे लता की ओट से प्रकट हो गये। कैसा अनोखा लुका-छिपी का खेल है। भगवान् पहले दिखे फिर अदृश्य हो गये। खोज हुई तो दिखे, पर लता की ओट में दिखे। आधे दृश्य, आधे अदृश्य। पर जब देख लिये गये, तो सोचा फिर भीतर छिपने से क्या फायदा? प्रभु प्रकट हो गये—

लता भवन ते प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥१/२३२

पर प्रकट हो जाने के बाद एक अनोखी बात हुई। सारी सखियाँ तो बड़ी प्रसन्नता से भगवान् राम की ओर देखने लगीं, किन्तु सीताजी ने एक बार देखने के बाद—

लोचन मग रामहि उर आनी।१/१३१/७

उन्हें नेत्र-मार्ग से भीतर हृदय में ले आयीं और फिर—

दीन्हें पलक कपाट सयानी॥१/१३१/७

अपने नेत्र बन्द कर लिये। सखियों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ—'जो प्रत्यक्ष सामने खड़े दिखाई दे रहे हैं उनको ध्यान में देख रही हैं।' सीताजी मानो बताना चाहती हैं कि जो प्रत्यक्ष है वह तो सबका है और थोड़ी देर में चला जाएगा, पर भीतर जो ध्यान में आ गया है, वह बाहर कैसे निकलकर जाएगा? क्योंकि मैंने जिस नेत्रद्वार से उन्हें भीतर बैठाया था, उसके पलक-कपाट तो मैंने उनके प्रवेश के बाद ही बन्द कर दिए थे।' बड़ी दिव्य भावना है। कोहबर के प्रसंग में भी ऐसी ही अनूठी बात दिखाई देती है।

कोहबर के रूप में दूल्हे से व्यंग्य-विनोद करने की एक परम्परा रही है। कोहबर में सारी सखियाँ भगवान् राम की ओर देख रही हैं और उनसे व्यंग्य-विनोद कर रही हैं। पर आश्चर्य! सीताजी की दृष्टि भगवान् राम की ओर न होकर अपने हाथ के कंकण पर केन्द्रित है। भगवान् राम के रूप-सौन्दर्य को निहारने के स्थान पर वे अपने आभूषण को क्यों देख रही हैं? पर जिनके पास दृष्टि थी उन्होंने देख लिया कि—

निज पानि मनि महुँ देखिअति मूरति सुरूपनिधान की।१/३२६/छं

वे कंकण के मणि में जो राम दिखाई दे रहे हैं उन्हें देख रही हैं। **'निज पानि मनि'** में देखने के पीछे निजत्व की अनुभूति का बड़ा सुन्दर भाव है। वे मानो बताना चाहती हैं कि ईश्वर जब तक हाथ में न आ जाय, अपनी मुट्ठी में न आ जाय, तब तक परम आनन्द की अनुभूति कैसे होगी? गोस्वामीजी कहते हैं कि—

निज पानि मनि महुँ देखिअति मूरति सुरूपनिधान की।
चालत न भुजबल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी॥१/३२६/छंद

वे कंकण-मणि में प्रभु की छवि को देख रही हैं और अपनी भुजा रूपी बल्ली को इस डर से हिला-डुला नहीं रही हैं कि इससे कहीं प्रभु की छवि अदृश्य न हो जाय!

गोस्वामीजी सीताजी की भुजा को बल्ली (लता) की यह जो उपमा देते हैं, उसे पढ़कर थोड़ा आश्चर्य होता है, पर विचार करने से ज्ञात हो जाता है कि यह गोस्वामीजी की कवि दृष्टि है जिसके लिये कहा जाता है कि—

जहाँ न जाए रवि, वहाँ जाय कवि।

वस्तुतः गोस्वामीजी के इस वर्णन में अलौकिक शृंगार रस की पराकाष्ठा है।

गोस्वामीजी सीताजी की भुजा को लता बनाकर यह संकेत देते हैं कि लता तो सदा वृक्ष से लिपटी हुई ही शोभा पाती है। अतः जहाँ अन्य सखियों को भगवान् राम सामने बैठे हुए दिखाई देते हैं, वहीं सीताजी उन्हें अपनी भुजाओं में देखती हैं। मानो वे अपने प्रेमालिंगन में बद्ध श्रीराम के दर्शन करती हैं। उनको ऐसा प्रतीत नहीं होता कि श्रीराम उनसे दूर हैं या अलग हैं। इस प्रकार यह प्रकट-अप्रकट की लीला है। पर नाम भगवान् तो प्रकट और सुलभ हैं।

'नाम-महिमा को समझ लेने के बाद क्या होता है?' इसे बताते हुए गोस्वामीजी एक बड़ी अनोखी बात कहते हैं। वे इसके लिये इतिहास में घटी एक घटना का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं कि जिह्वा से भगवान् के नामस्मरण करने पर—

जुग जुग चालत चाम को। विनयपत्रिका/६६/४

चमड़े के सिक्के के सम्बन्ध में इतिहास में ऐसा वर्णन आता है कि एक भिश्ती ने भागते हुए हुमायूँ को अपनी मशक के सहारे नदी पार कराकर उसके प्राणों की रक्षा की थी। बाद में हुमायूँ के जब दिन फिरे

और वह पुनः सिंहासनारूढ़ हुआ तो उसे उस भिश्ती की याद आई। उसने उसे बुलाकर पूछा—"बोलो क्या चाहते हो?" भिश्ती ने कहा—"मुझे एक घण्टे के लिये बादशाह बना दिया जाय!" हुमायूँ ने उसे एक घण्टे के लिये बादशाह बना दिया।

बादशाह बनने के बाद जब उससे पूछा गया कि "अब आपकी क्या आज्ञा है?" तो उसने कहा कि 'चमड़े का सिक्का जारी किया जाय।' भिश्ती को चमड़े के मशक के कारण ही बादशाह बनने का सौभाग्य मिला था, इसलिये उसने सोचा कि चमड़े का सिक्का चले, जिससे लोग उसके महत्त्व को समझें। चमड़े का सिक्का चला, पर ज्यादा देर तक नहीं चल पाया। राजा के रूप में भिश्ती का समय समाप्त हुआ नहीं कि चमड़े का सिक्का भी मूल्यहीन हो गया।

गोस्वामीजी इस दृष्टान्त के माध्यम से एक बहुत बड़ी बात कहते हैं कि 'हमारे प्रभु के नाम के रूप में जो बादशाह हैं वे इतने कृपालु हैं कि उनके प्रबल प्रताप से इस जीभ के चमड़े का सिक्का भी युगों-युगों से चलता आ रहा है। नाम की इतनी अधिक महिमा है।'

गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभु का यह नाम परम कल्याणकारी है। उसका निरूपण कीजिए—

नाम निरूपन नाम जतन तें।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥१/२२/८

जिस प्रकार हीरे के नाम को जानने के बाद उसका मूल्य प्रकट हो जाता है उसी प्रकार प्रभु के नाम के निरूपण से, यत्नपूर्वक उसका जप करने से हमारे अन्तर्जीवन की समस्याओं का समाधान करनेवाले प्रभु हमें प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिये **'मन्त्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा'** के रूप में प्रभु ऐसा दिव्य भक्ति मन्त्र प्रदान करते हैं जो भक्ति के, पाँचवें सोपान के रूप में केन्द्र में अवस्थित है।

॥बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय॥

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

षष्ठ प्रवचन

भगवान् राम ने भक्तिस्वरूपा शबरीजी के समक्ष जिस नवधा भक्ति का वर्णन किया वह बड़ा अद्‌भुत और रहस्यपूर्ण है। इसमें पंचम भक्ति का महत्त्व कई दृष्टियों से सर्वाधिक है।

हम जिस युग में रहते हैं उस कलियुग के सन्दर्भ में यह बात बार-बार कही गयी है कि इसमें जप के द्वारा जो उपलब्धि होती है, वैसी किसी अन्य साधन से नहीं हो सकती। कहा गया है कि—

जपात्सिद्धिः जपात्सिद्धिः जपात् सिद्धिर्नसंशयः।
कलौ केवल हरिर्नाम न गतिरअन्यथा॥

गोस्वामीजी भी यही कहते हैं कि—

चहुँ श्रुति चहुँ जुग नाम प्रभाऊ।
कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥१/२१/८

यद्यपि चारों युगों में भगवान् के नाम की महिमा गाई गयी है, पर कलियुग में नाम का विशेष महत्त्व है क्योंकि नाम ही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में जपयज्ञ को ही अन्य सभी यज्ञों की तुलना में श्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं कि—

यज्ञानाम् जपयज्ञोऽस्मि।

'समस्त यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ।' रामचरितमानस के सर्वश्रेष्ठ सन्त श्रीभरत के चरित्र को भी जपयज्ञ की संज्ञा दी गयी है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि—

समन सकल उत्पात सब भरत चरित जपजाग।

'जपयज्ञ' को हृदयंगम करने के लिये हम एक यज्ञपुरुष के रूप में उसकी भावना कर सकते हैं।

व्यक्ति की संरचना को हम तीन प्रमुख अवयवों के समुच्चय के रूप में देख सकते हैं। एक तो व्यक्ति का शरीर जो प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है। दूसरा उसका प्राण जिससे वह जीवित रहता है और तीसरा उसका मस्तिष्क जिसके माध्यम से व्यक्ति चिन्तन-मनन कर सत्य का अन्वेषण करता है। यज्ञ की महिमा का जो वर्णन किया गया है उसके आधार पर हम यज्ञ पुरुष के भी शरीर, प्राण और मस्तिष्क इन तीनों की निर्धारणा कर सकते हैं।

जप की जो विधि है, मानो वही यज्ञपुरुष का शरीर है। जप के विषय में यह बताया गया है कि किस आसन पर बैठकर जप करना चाहिए, किस माला का जप करना चाहिए। यह भी कहा गया है किस मन्त्र के जप से अर्थ, धर्म, काम अथवा मोक्ष में से किस फल की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार जप और मन्त्र के विषय में जितना हमारे शास्त्रों में लिखा गया है उतना और कहीं नहीं लिखा गया है।

जप की महिमा सभी धर्मों में दिखाई देती है। और भिन्न-भिन्न धर्मों के लोग अपनी-अपनी विधि के अनुसार जप करते हुए दिखाई देते हैं।

'विधि' शब्द का उपयोग व्यापक अर्थों में तथा कई सन्दर्भों में किया जाता है। नियम और कानून को विधि कहते हैं। व्यवस्था को भी विधि कहते हैं। ब्रह्मा ने व्यवस्था का निर्माण किया इसलिये ब्रह्माजी को 'विधि' के नाम से भी जाना जाता है।

सामान्य व्यावहारिक जीवन में भी विधि की महत्ता पग-पग पर दिखाई देती है। व्यक्ति के पारिवारिक व सामाजिक क्रिया-कलाप यदि विधि-सम्मत नहीं हैं, तो उन्हें उचित नहीं माना जाता। विधि की अनुकूलता और प्रतिकूलता के अनुसार ही व्यक्ति का मूल्यांकन किया जाता है।

यज्ञ (जप) करते समय किस आसन पर बैठना चाहिए, किस दिशा में मुँह करके बैठना चाहिए, किस मन्त्र का जप कब करना चाहिए, आदि का बड़ा विस्तृत वर्णन मन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में पढ़ने को मिलता है। स्वयं भगवान् अपने चरित्र में विधि को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। यद्यपि ईश्वर होने के नाते वे विधि से सर्वथा ऊपर हैं, उन पर कोई नियम या बन्धन लागू नहीं होता। पर इतना होने पर भी वे विधि का पालन करते हुए दिखाई देते हैं।

भगवान् राम के विवाह के समय का जो वर्णन पढ़ने को मिलता है उसमें गोस्वामीजी यही लिखते हैं कि–

होम समय तनु धरि अनलु अति सुख आहुति लेहिं।
बिप्र बेष धरि बेद सब कहि बिवाह बिधि देहिं॥१/३२३

विवाह की जिस विधि का शास्त्रों में वर्णन किया गया है, भगवान् राम और उनके भाइयों का विवाह भी उसी विधि से सम्पन्न हुआ और अनोखी बात यह है कि स्वयं वेद आकर विवाह की विधि बताते हैं तथा वहाँ जो आहुतियाँ दी जाती हैं उसे अग्नि प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर स्वयं ग्रहण करते हैं।

इसका अर्थ है कि जैसे शरीर के द्वारा व्यक्ति संसार के क्रिया-कलापों का निर्वाह करता है, उसी प्रकार जप की विधि का भी महत्त्व है। विधि-अनुकूल जप अभीष्ट फल प्रदान करता है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि विधि के विरुद्ध जप करने से प्रतिकूल फल भी मिल सकता है। भगवान् राम विधि का बहुत अधिक सम्मान करते हैं।

'मानस' में वर्णन आता है कि चित्रकूट में भरत के द्वारा पिताजी की मृत्यु का समाचार सुनकर भगवान् राम महाराज दशरथ का श्राद्ध करते हैं। उस समय एक अनोखी बात हुई। महाराज दशरथ का भगवान् राम के प्रति अत्यन्त अनुराग था। वर्णन आता है कि भगवान् राम जब शास्त्रविधि के अनुसार पिण्डदान करने लगे तो महाराज दशरथ का हाथ पिण्डदान लेने के लिये सामने आ गया। पर भगवान् राम ने पिताजी के हाथ में पिण्डदान न देकर आचार्यों से पूछा–"शास्त्र इस विषय में क्या कहते हैं? पिण्ड किस पर रखा जाता है?"

बताया गया कि शास्त्र में तो यही विधान है कि कुश बिछाकर पिण्ड को उस पर रख दिया जाता है। यह जानकर भगवान् राम सीधे दशरथजी के हाथ में पिण्ड न देकर शास्त्र की विधि का पालन करते हैं और कुश के ऊपर पिण्ड को छोड़ देते हैं।

भगवान् राम से पूछा गया कि "महाराज! आप सीधे ही दशरथजी के हाथ में भी तो दे सकते थे, पर आपने ऐसा क्यों नहीं किया?" भगवान् राम ने कहा कि "विधि का पालन करना ही उत्तम होता है। आज यदि मेरे पिताजी प्रसन्न होकर स्वयं पिण्डदान ग्रहण करने आ गये, पर भविष्य

में यह आवश्यक नहीं कि सभी के पिता आएँ ही और हाथ निकाल दें! तब सोचो क्या होगा?" ऐसा तो होता भी नहीं है। इसके विषय में कबीरदासजी का एक दोहा बड़ा प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने पिता के श्राद्ध करने वाले एक पुत्र पर व्यंग्य किया है।

किसी व्यक्ति ने अपने पिता का श्राद्धकर्म बड़ी धूमधाम से किया तथा एक बड़ा भोज दिया। लोगों ने उस व्यक्ति का नाम लेकर जब कबीरदास को बताया कि 'कितनी श्रद्धाभावना से पिताजी का श्राद्ध कर रहा है! बड़ा पितृप्रेमी लगता है!' कबीरदासजी को उस व्यक्ति के बारे में सब ज्ञात था। उन्होंने कहा–

जिअत बाप सो दंगम दंगा।
मरे हाड़ पहुँचावे गंगा॥

"पिताजी जब तक जिन्दा रहे, उनके साथ दंगा करता रहा और अब उनके मरने के बाद नाम कमाने के लिये पितृभक्ति का दिखावा कर रहा है!"

भगवान् राम ने कहा कि मैं चाहता हूँ कि लोग शास्त्र की विधि के अनुकूल कार्य करें। आज भी जो देश का विधान है, यदि कोई उससे हटकर कार्य करे तो उसकी आलोचना होती है।

इस प्रकार विधि **यज्ञपुरुष का शरीर है। विश्वास यज्ञपुरुष का प्राण है और तत्त्व का निरूपण उसकी आत्मा है।**

यद्यपि विधि का महत्त्व है, पर जब कोई ज्ञानी जप करता है तो उसके लिये कर्मकाण्ड की विधि की प्रमुखता के स्थान पर तत्त्व-निरूपण की प्रधानता होती है। ज्ञान की दृष्टि ही यह निरूपित करती है कि 'राम' नाम में प्रयुक्त रकार, अकार और मकार का मूल्य सिर्फ उतना ही नहीं है जितना कि वर्णमाला में होता है, अपितु भगवान् के नाम के रूप में प्रयुक्त ये अक्षर साधारण अक्षर न रहकर, अक्षर ब्रह्म बन जाते हैं।

हमारे देश में ईश्वर को सगुण-साकार तथा निर्गुण-निराकार, इन दोनों रूपों में मानने की परम्परा है। पर यह बड़ी अद्भुत बात है कि दोनों ही मतों के माननेवाले रामनाम को श्रेष्ठ मानते हैं। अब यदि आपमें इस विचार का उदय न भी हो पाए कि 'रामनाम' क्या है? उसका तत्त्व क्या है? तब भी आप रामनाम का जप करिये उससे भी कल्याण तो होगा ही।

गोस्वामीजी के सामने जब कोई व्यक्ति यह बार-बार बखान करने लगा कि 'यह मेरा है, वह मेरा है' तो गोस्वामीजी ने उससे पूछा–

मोर मोर सब कहँ कहसि तू को कह निज नाम।

"आप जरा अपना परिचय तो दीजिए कि आपका नाम क्या है? जिससे पता चले कि जिसे आप मेरा-मेरा कह रहे हैं सचमुच वह आपका ही है या आपने जबरदस्ती उसे अपना बना रखा है!" फिर गोस्वामीजी सावधान करते हुए कहते हैं कि–

कै चुप साधहि सुनि समुझि कै तुलसी जपु राम॥
(दोहावली १८)

जरा चिन्तन करो, विचार करो और जब नाम और रूप के रहस्य को समझ लोगे तो मौन हो जाओगे और यदि ऐसा नहीं कर सकते तो रामनाम का जप करो, धीरे-धीरे नाम भगवान् ही बता देंगे कि उनसे तुम्हारा क्या नाता है।"

मानो गोस्वामीजी बताना चाहते हैं कि 'तुम यदि शरीर को 'मैं' मानकर मेरा-मेरा कह रहे हो, तो जिनसे तुम अपना सम्बन्ध मान रहे हो, वे सब तुम्हारा अलग-अलग रूप में परिचय देंगे, उन नातों के भिन्न-भिन्न नाम होंगे। तो फिर तुम्हारा असली परिचय क्या हुआ? इसलिये मेरा-मेरा कहना बन्द करके विचार करो। तुम देखोगे कि आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर मेरा-तेरा सब बन्द हो जाएगा। क्योंकि तब एकमात्र ब्रह्म की सत्ता ही दिखाई देगी, व्यक्ति की नहीं।' यह ज्ञान उसके नाम के स्मरण से व्यक्ति पा सकता है। सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का परिचय व्यक्ति प्रभु के नाम के माध्यम से पा सकता है

भगवान् शंकर के विषय में वर्णन आता है कि उन्होंने विष को पी लिया था। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि यह कोई जादूगरी नहीं अपितु भगवान् के नाम का प्रभाव है–

नाम प्रभाउ जानि सिव नीको।
कालकूट फल दीन्ह अमी को॥१/१८/८

समुद्र-मन्थन की जो गाथा आती है उसमें कहा गया है कि देवता और दैत्यों ने मिलकर अमृत पाने की दृष्टि से समुद्र का मन्थन किया था। पर अमृत तो निकला नहीं, विष निकल आया। सब उसकी ज्वाला

से जलने लगे और आतंकित हो गये।

देवतागण भगवान् को उलाहना देने लगे—"महाराज! आपने तो कहा था कि अमृत निकलेगा! यही अमृत है क्या?" भगवान् ने कहा—"धैर्य रखो, अमृत भी निकलेगा।"

—"महाराज! बाद में निकलेगा तो क्या लाभ होगा? इस विष से बच पाएँगे तब न अमृत पीएँगे!" भगवान् ने कहा—"यह विष भगवान् शंकर के पास ले जाओ और उनसे कहो कि वे इसे पी लें।"

भगवान् यदि चाहते तो स्वयं विषपान कर सकते थे। पर स्वयं न पीकर भगवान् शंकर के पास भिजवा दिया। कोई किसी के पास विष भेजे, तो साधारणतया यही माना जाएगा कि शत्रुता होगी इसलिये ऐसा कर रहे हैं। पर भगवान् शंकर निरन्तर भगवान् के नाम का प्रेम से स्मरण करते हैं, शत्रुता की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

भगवान् शंकर के पास विष लाया गया। उन्होंने पूछा—"किसने भेजा है?" और जब उन्हें बताया गया कि भगवान् ने भेजा है, तो उन्होंने उस विष को बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण कर लिया। इसके पीछे भगवान् शंकर की क्या दृष्टि है? इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

गोस्वामीजी 'मानस' में इस संसार का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इसमें अच्छा-बुरा, पापी-पुण्यात्मा, सुख-दुःख आदि दोनों पक्ष ही दिखाई देते हैं। इस द्वन्द्वात्मक सृष्टि का चित्र प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं कि—

सुख दुख पाप पुन्य दिन राती।
साधु असाधु सुजाति कुजाती॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू।
अमिअ सुजीवनु माहरु मीचू॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा।
लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा॥
कासी मग सुरसरि क्रमनासा।
मरु मारव महिदेव गवासा॥
सरग नरक अनुराग बिरागा।
निगमागम गुन दोष बिभागा॥१/५/५-६

इस द्वन्द्वमयी सृष्टि के पहले क्या था? यदि इससे पहले कुछ भी

नहीं था तो यह संसार किससे बना? आधुनिक विज्ञान की अपनी दृष्टि है जिसके द्वारा सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया की खोज की जाती है। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि इस संसार की रचना को, संसार के अस्तित्व को देखने-समझने की एक और दृष्टि भी है। इसके मूल में कौन है? यह सृष्टि किसकी रचना है? गोस्वामीजी जब भगवान् राम की लीला और चरित्र का वर्णन करते हैं तो उसमें दर्शन का तत्त्व भी जोड़ देते हैं और इन प्रश्नों का उत्तर भी प्रस्तुत करते हैं।

'मानस' में भगवान् की वन्दना **'ग्यान गम्य जय रघुराई'** तथा **'वेदान्त वेद्यं विभुम्'** कहकर की गयी है। भगवान् शंकर भी जब भगवान् राम की वन्दना करते हैं तो वे—

बंदउँ बाल रूप सोइ रामू।

कहकर बालक राम की वन्दना करते हैं।

बालक राम की लीलाओं का गोस्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। भक्त उन पदों को गाकर आनन्द-विभोर हो जाते हैं। गोस्वामीजी का यह पद—

ठुमुकि चलत रामचन्द्र बाजत पैंजनियाँ।

भक्त गायकों को बड़ा प्रिय है। बालक का वर्णन तो उसका कैसे शृंगार किया गया है, कौन-से रंग का वस्त्र उसने पहन रखा है, उसके गले में कैसी माला है? आदि-आदि के विषय में ही होता है। पर भगवान् शंकर अपने इष्टदेव भगवान् राम की वन्दना से पहले जो वाक्य कहते हैं, उन्हें पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है। वे कहते हैं कि—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जानें जग जाइ हेराइ।
जागें जथा सपन भ्रम जाई॥१/११९/१,२

'जिन राम को जाने बिना यह झूठा संसार भी सत्य प्रतीत होता है और जिसे जान लेने के बाद यह संसार स्वप्नवत् हो जाता है, खो जाता है, ऐसे बालक राम की मैं वन्दना करता हूँ।' बालक राम के शिशु-सुलभ कोमल और वात्सल्यपूर्ण चित्रण के स्थान पर दर्शन के तत्त्व का विवेचन कर भगवान् शंकर मानो बताना चाहते हैं कि आप केवल मन के आनन्द

तक ही सीमित नहीं रहिए। उसके लिये तो और बहुत-सी बातें हैं। अतः उसे थोड़ा और आगे बढ़िए।

महाराज मनु ने साधना की तो भगवान् राम उनके सामने प्रकट हुए। उनके साथ उनके वाम भाग में सीताजी भी थीं। महाराज मनु समझ नहीं पाए कि वे कौन हैं? भगवान् राम कह सकते थे कि ये मेरी पत्नी हैं और इनका नाम सीता है। पर भगवान् राम ऐसा नहीं कहते, अपितु सीताजी का परिचय देते हुए वे कहते हैं कि–

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥१/१५१/४

'ये आदिशक्ति हैं और इन्होंने ही संसार का निर्माण किया है।' फिर भगवान् कहते हैं कि ये मेरी माया हैं। मानो इसके द्वारा वे बताना चाहते हैं कि ये किसी वस्तु या पदार्थ से नहीं, अपनी माया से निर्माण करनेवाली आदिशक्ति हैं। ये ऐसे जादू की स्वामिनी हैं जहाँ कुछ न होते हुए भी वे सब कुछ दिखला देती हैं। गोस्वामीजी विश्व-रचना के मूल कारण का संकेत एक और प्रसंग में भी करते हैं।

विश्वामित्रजी भगवान् राम और लक्ष्मणजी को लेकर अपने आश्रम की ओर प्रस्थान करते हैं उस समय गोस्वामीजी बड़े सुन्दर शब्दों में इसका चित्रण करते हुए लिखते हैं कि–

पुरुष सिंह दोउ बीर,

ये दोनों पुरुष सिंह और वीर हैं। सिंह बड़ा डरावना होता है। लगता है कि सिंह कहकर वे यह बताना चाहते हैं कि ये दोनों डराते होंगे। पर अगले वाक्य में वे कहते हैं कि–

हरषि चलेउ मुनि भय हरन।

नहीं, नहीं, ये डरानेवाले सिंह नहीं, डर दूर करनेवाले सिंह हैं। इतना ही नहीं, वे कहते हैं कि ये सिंह की तरह न तो क्रूर हैं और न ही हिंसक, अपितु–

कृपासिंधु रघुबीर

ये तो कृपासिन्धु हैं। फिर अन्त में गोस्वामीजी तात्त्विक परिचय देते हुए कहते हैं कि–

अखिल बिस्व कारन करन।

ये संसार के कारण और करण दोनों ही हैं।

भगवान् शंकर उस विष को सहर्ष क्यों पी लेते हैं? सृष्टि के मूल में जब कोई वस्तु नहीं है, तो फिर दिखाई देने पर भी तत्त्वतः कुछ भी नहीं है। और यदि कारण और करण एक ही है तो फिर इसका रूप कुछ भी क्यों न हो, सबमें कारण के रूप में, धातु के रूप में एक वही ब्रह्मतत्त्व ही विद्यमान् है। 'वस्तुतः भगवान् शंकर की दृष्टि में विष और अमृत में (तत्त्वतः) कोई भेद नहीं है' इसे एक दृष्टान्त के रूप में समझ सकते हैं।

किसी मन्दिर में जाने पर दिखाई देता है कि भगवान् की बड़ी सुन्दर मूर्ति बनी हुई है। पास में एक राक्षस की भी मूर्ति बनी हुई है, जिसका स्वरूप बड़ा भयावना है। पर दिखने में एक सुन्दर तथा दूसरी भयावह लगे, दोनों मूर्तियाँ संगमरमर की ही बनी हुई हैं। दिखने में भेद होने पर भी दोनों में धातुगत कोई भेद नहीं है।

'सृष्टि का सृजन एक विस्फोट से हुआ', यह आधुनिक विज्ञान की धारणा है। यद्यपि अध्यात्म विज्ञान की अपनी शैली है। पर कहा जा सकता है कि सबसे पहले एक शब्द सुनाई पड़ा (विस्फोट हुआ) और जिस शब्द की ध्वनि गूँजी वह है 'ॐ'।

महाराज मनु के सामने पहले ब्रह्म का कोई रूप नहीं आया। पहले आकाशवाणी के रूप में शब्द ही सुनाई पड़ा। इस प्रकार कह सकते हैं कि निर्गुण-निराकार जब सगुण-साकार होने चला, तो सबसे पहले उसकी अभिव्यक्ति शब्द के रूप में हुई। 'कुछ नहीं' का अर्थ है आकाश। न्यायशास्त्र कहते हैं कि इस अव्यक्त आकाश का गुण है 'शब्द'–

शब्दगुणकं आकाशम्।

अर्थात् यदि वह व्यक्त होगा तो शब्द के रूप में व्यक्त होगा।

निर्गुण-निराकार से सगुण-साकार तक आने में एक क्रम है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और अन्त में जल से पृथ्वी की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। फिर इन पाँचों से सारा संसार बनता है। निराकार से साकार बनने में शब्द की महत्ता सर्वप्रथम है।

'मानस' में कहा गया है कि भक्त सर्वत्र भगवान् को ही देखता है–

सरगु नरकु अपबरगु समाना।
जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥२/१३०/७

ज्ञानी की दृष्टि में भी सर्वत्र ब्रह्म ही का निवास है। ज्ञानी के लिये

स्वर्ग, नरक, मोक्ष एक ही तत्त्व के अनेक रूप हैं। महाराज जनक से जुड़ा एक बड़ा प्रसिद्ध प्रसंग आता है।

महाराज जनक को देवदूत स्वर्ग की ओर अपने साथ ले जा रहे थे, तो मार्ग में जब वे नरक के पास से गुजरने लगे तो वहाँ रहनेवाले पापियों ने कहा—"ये कौन महापुरुष हैं जिनके शरीर की सुगन्धि से हमारे शरीर की सारी पीड़ा शान्त हो गयी?" महाराज जनक ने जब यह बात सुनी तो देवदूतों को रुकने के लिये कहा और बोले—"अब मैं यहीं रहूँगा।" देवदूतों ने कहा—"महाराज! नरक में तो पाप करनेवाले आते हैं और पुण्यकर्मा व्यक्ति का स्थान स्वर्ग में होता है। आपको तो स्वर्ग तक ले जाने के लिये हम लोग भेजे गये हैं।"

महाराज जनक ने कहा—"जब मेरे यहाँ रहने से इतने लोगों को प्रसन्नता हो रही है, तब मेरे लिये यहीं रहना अच्छा है।"

कहा जाता है कि महाराज जनक के पुण्य-प्रताप से सारे पापी स्वर्ग में चले गये। देवदूतों ने उनसे कहा—"आप भी ऊपर चलिए!" महाराज जनक ने कहा—"पुण्य से स्वर्ग मिलता है। पर मैंने तो अपना सारा पुण्य दे दिया। जब पुण्य ही शेष नहीं रहा तो मैं कैसे स्वर्ग जा सकता हूँ? मैं यहीं ठीक हूँ।"

देवदूतों ने बड़ी सुन्दर बात कही, बोले—"महाराज! आपने अपना अर्जित पुण्य दे दिया, यह तो ठीक है, पर इस पुण्यदान का पुण्य इतना अधिक हो गया है कि अब आपका स्थान स्वर्गलोक क्या, ब्रह्मलोक में है।"

भगवान् शंकर ने देखा कि भगवान् ने इस विष को इसलिये भेजा कि जिससे इसकी ज्वाला से सृष्टि जलकर नष्ट न होने पाए। ऐसी स्थिति में चाहते तो वे स्वयं भी विषपान कर सबकी रक्षा कर सकते थे। पर धन्य हैं वे! जो मुझे यह श्रेय देना चाहते हैं।

वैसे भगवान् शंकर की ज्ञानमयी दृष्टि में विष और अमृत का कोई भेद नहीं है। सबमें वे ब्रह्मतत्त्व को ही देखने में सक्षम हैं। पर कोई भेद न होने पर भी उनके द्वारा नामतत्त्व के निरूपण से भगवान् के नाम की सर्वश्रेष्ठता जिस रूप में सिद्ध होती है, वैसा दृष्टान्त दुर्लभ है।

भगवान् शंकर निरन्तर रामनाम का जप करते हैं। गोस्वामीजी यही लिखते हैं कि—

धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्री रामनामामृतम्।

भगवान् शंकर तो निरन्तर रामनाम के अमृत का पान करते हैं। अब एक दिन विषपान का अवसर आ गया। भगवान् शंकर ने आनन्दपूर्वक विषपान कर लिया। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। पूछा गया—"महाराज! आपने इतना भयानक विष कैसे पी लिया? और उसके बाद आपको कैसा लगा?" भगवान् शंकर ने बड़ी मीठी बात कही।

भगवान् शंकर ने कहा—"मेरे गले में रामनाम का अमृत पहले से था ही, भगवान् की ओर से विष आ गया। तो मैंने विष को राम के साथ मिला दिया तो 'विश्राम' हो गया।

यद्यपि सब ब्रह्म के ही विविध रूप हैं। इस दृष्टि से क्या विष और क्या अमृत? पर सिद्ध हो गया कि रामनाम तो सर्वश्रेष्ठ अमृत है। इस तरह भगवान् शंकर, भगवान् के नाम का निरूपण करते हैं।

वर्णमाला के अक्षरों का अध्ययन करनेवाला विद्यार्थी कहलाता है, पर उन्हीं अक्षरों के तत्त्व रूप को जो जान लेता है, वह 'ज्ञानी' है। ऐसा ज्ञानी प्रभु के नाम का निरूपण करता है। और जो भगवान् के नाम का, 'विधि' की प्रमुखता से जप करता है, वह कर्मकाण्डी है। पर भगवान् सबसे ज्यादा महत्त्व किसे देते हैं? जब वे यह कहते हैं कि—

मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।

'दृढ़ विश्वास से मन्त्रजाप करना मेरी भक्ति है' तो इसका अर्थ है कि भक्ति का प्राण तो विश्वास है। भक्ति में विधि और द्रष्टा भी है, पर मुख्य तो विश्वास है, प्रभु में दृढ़ विश्वास। विश्वास से जुड़ी एक बड़ी प्रसिद्ध गाथा आती है।

उड़ीसा की बात है। एक अनपढ़ व्यक्ति ने किसी गुरु से एक बढ़िया मन्त्र देने की प्रार्थना की। उन्होंने उसे देवी का मन्त्र दे दिया। देवी के मन्त्र उच्चारण में कुछ क्लिष्ट होते हैं। उनमें 'ॐ ह्री क्लीं' आदि जो शब्द होते हैं वे कुछ कठिन से लगते हैं। कई लोगों को इसीलिये ऐसा लगता है कि ये मन्त्र बहुत बढ़िया होंगे क्योंकि रामनाम तो बड़ा सीधा-सादा सा है।

उस व्यक्ति ने देवी का मन्त्र ले तो लिया, पर अनपढ़ होने के कारण ठीक से उसे जप नहीं पाता था। यद्यपि उसका उच्चारण तो अशुद्ध था, पर वह बड़े भाव और तन्मयता से मन्त्र जपता था।

वर्णन आता है कि प्रतिदिन गलत उच्चारण सुनकर देवी को क्रोध आ गया। एक दिन वे उसके सामने प्रकट हो गयीं, और उसे एक चाँटा लगाकर बोलीं—"कम से कम मेरा मन्त्र तो शुद्ध जपा कर!" वह व्यक्ति देवी को प्रकट देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—"माँ! मैं तो ऐसे ही जपा करूँगा, आप जो शुद्ध मन्त्र बता रही हैं, वह बिल्कुल नहीं जपूँगा।"

—"क्यों नहीं जपेगा?"

—"माँ! जिस अशुद्ध मन्त्र के जप के प्रभाव से आपको आना पड़ा, उसे छोड़ शुद्ध मन्त्र लेकर मैं क्या करूँगा?" यही है विश्वास! इसमें न तो विधि की प्रधानता है और न ही निरूपण की। गोस्वामीजी इसलिये भगवान् के नाम के स्मरण के लिये यहाँ तक कहते हैं कि—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥१/२७/१

बच्चा जब भी माँ को पुकार लेता है, वह उसके पास आ जाती है। वह कभी प्रेम से पुकारता है, कभी दूध न मिलने पर रुष्ट होकर पुकारता है, पर वह जिस भाव से भी पुकारे माँ आती ही है। बालक में न तो ज्ञान होता है, न वह विधि ही जानता है, उसके पास तो बस एक ही दृढ़ विश्वास है।

इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि विधि या ज्ञान त्याज्य हैं। विधि को छोड़ देने की बात सोचने के स्थान पर पहले विधि पालन करने की बात सोचना अधिक अच्छा है और पालन करने का यत्न करना उससे भी अच्छा है। फिर चाहे विधि में त्रुटि रह भी जाय, उसका पालन करना नहीं छोड़ना चाहिए। इसलिये जो कर्मकाण्ड सम्पन्न होते हैं उसमें आचार्य के साथ-साथ एक और विद्वान् पंडित बैठाए जाते हैं—'ब्रह्मा।' ब्रह्माजी के रूप में उनका वरण किया जाता है और वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि—

कृताकृतपरिवेक्षणेषु,

जो कुछ हो रहा है, उसमें विधि का ठीक-ठीक पालन किया जा रहा है या नहीं! अब आजकल विधि का पालन होता है या नहीं यह तो 'अर्थ-ब्रह्मा' ही बता सकते हैं!

विधिपूर्वक जप करना, नाम का निरूपण करना, ये सब तो आनन्ददायी हैं ही, पर जैसे शरीर बहुत अच्छा हो, पर उसमें प्राण न हों तो फिर वह किस काम का? शरीर के अन्य अंग-प्रत्यंगों में यदि कुछ कमी हो, तो भी काम चल सकता है, पर प्राण न हो तो सारे अंग व्यर्थ हैं। इसलिये प्रभु कहते हैं कि—

मन्त्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा।

मन्त्रजाप करने में दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है और जो विश्वास की प्रधानता से मेरा जप करता है, वह मेरा परम भक्त है।

॥बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय॥

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

सप्तम प्रवचन

प्रभु अपनी पाँचवीं भक्ति में मन्त्रजाप की महिमा का वर्णन करते हैं तो उसके साथ दो बातें और भी जोड़ते हुए कहते हैं कि मन्त्रजाप के साथ दृढ़विश्वास भी होना चाहिए और यह भक्ति का जो स्वरूप है वह **'बेद-प्रकासा'** अर्थात् वेद-सम्मत है। वेद में इसका वर्णन है।

वेद से सम्बद्ध करने का एक विशेष कारण है। हमारे यहाँ जो सनातन धर्म है उसका मूल आधार ईश्वर न होकर वेद है। यह बात साधारणतया लोगों को विचित्र-सी लगती है, पर कहा तो यही गया है। इसलिये किसी कथन के प्रामाणिक होने की एक ही कसौटी मानी जाती है कि वह वेद-सम्मत है या नहीं? उसका मूल वेद में है या नहीं? वेद-सम्मति ही प्रामाणिकता का मानदण्ड है। इसलिये रामचरितमानस में बड़े से बड़ा पात्र भी जो कुछ महत्त्वपूर्ण विवेचन करता है, उसके विषय में यह कहे बिना नहीं रहता कि 'यह वेद के अनुकूल है।'

आधुनिक शोधशैली में तो यह माना जाता है कि वेद किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर विभिन्न लेखकों की रचनाओं का एक संकलित ग्रन्थ है। पर सनातन धर्म के अध्येता जानते हैं कि वेदों की रचना के बारे में ऐसा नहीं माना जाता।

वेदों को 'अपौरुषेय' कहकर यह बताया गया है कि किसी व्यक्ति ने अपनी बुद्धि का उपयोग कर इनकी रचना नहीं की है। ऐसे श्रेष्ठ ग्रन्थ भी हैं जिनकी रचना किसी व्यक्ति, ऋषि या सन्त के द्वारा की गयी है। जैसे रामायण की रचना महर्षि वाल्मीकि के द्वारा की गयी है। वे आदि कवि के रूप में परम वन्दनीय हैं। गोस्वामीजी ने उनकी बड़ी भावभीनी

वन्दना की है। रामायण के प्रति समाज में अत्यन्त आदर और श्रद्धा का भाव है। पर वेदों के विषय में मान्यता है कि वे किसी व्यक्ति की कृति न होकर 'श्रुति' हैं।

श्रुति का अर्थ है कि जो कानों से सुनी जाय। वेद श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से सुने गये मन्त्र हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञाकाल में ऋषियों के कानों में जो मन्त्र सुनाई पड़े, उसे उन्होंने अपने शिष्यों को सुनाया जिसे शिष्यों ने याद कर लिया। श्रवण से श्रवण तक प्रवहमान यह ज्ञानधारा ही वेद के रूप में जानी गयी।

समाधिकाल में सुने गये ये मन्त्र वस्तुतः ब्रह्मवाणी ही हैं। भगवान् के शब्द-विग्रह ही वेद हैं इसलिये ये परम प्रमाण हैं। और ऐसे ऋषियों को मन्त्र के रचनाकार न कहकर उन्हें मन्त्रद्रष्टा की संज्ञा दी गयी है। महर्षि विश्वामित्र को गायत्री मन्त्र के द्रष्टा के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी श्रोता ही हैं, रचयिता नहीं। और इसलिये मन्त्रद्रष्टा ऋषि के जीवन में जो गुण और कभी-कभी यत्किंचित दोष आदि दिखाई देते हैं, उनसे इन मन्त्रों को नहीं जोड़ा जा सकता। महर्षि विश्वामित्रजी के उदाहरण से यह बात समझ में आ जाती है।

यद्यपि वे पवित्रतम समाधि की स्थिति में गायत्री महामन्त्र का श्रवण करते हैं, पर उनके चरित्र में महत्तम गुणों के साथ-साथ कुछ कमियों का भी उल्लेख पुराणों में आता है। गोस्वामीजी ने भी इसकी ओर सांकेतिक भाषा में एक बड़ी रसमयी बात लिखी है।

विश्वामित्रजी के साथ भगवान् राम यज्ञरक्षण के बाद जनकपुर पधारते हैं। जहाँ वे गुरुदेव के लिये पुष्प लेने हेतु पुष्पवाटिका में आते हैं तो उन्हें देखकर श्रीसीताजी की सखियाँ आपस में चर्चा करती हैं। भगवान् राम के गुणों का स्मरण करते हुए वे कहती हैं कि–

कौसिक-से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं। (गीतावली-१/७२/२)

'इन्होंने तो विश्वामित्र-जैसे क्रोधी मुनि को भी अपने वश में कर लिया है।'

सखियाँ, ताड़का-वध, मारीच और सुबाहु-दमन एवं अहल्या-उद्धार के कार्यों की अपेक्षा भी क्रोधी विश्वामित्र मुनि को अपने आधीन करने को प्रभु का सर्वश्रेष्ठ व प्रशंसनीय कार्य मानती हैं।

गोस्वामीजी इस प्रकार मानो विश्वामित्रजी के जीवन में क्रोध के रूप में एक विकार होने का संकेत देते हैं। पर विश्वामित्र परम कल्याणकारी गायत्री मन्त्र के द्रष्टा हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि समाधिकाल में श्रवण किए मन्त्र उस श्रोता के गुण-दोष सापेक्ष न होकर निरपेक्ष हैं क्योंकि उन मन्त्रों का प्रणयन उस श्रोता के द्वारा नहीं हुआ है।

वेदों ने जिन्हें प्रकाशित किया है उन मन्त्रों में से एक महामन्त्र रामनाम भी है। 'मानस' में रामनाम की महिमा विविध रूपों में गाई गयी है। भगवान् शंकर तो रामनाम का जप करते ही हैं, पर 'मानस' में एक पंक्ति ऐसी आती है जिसमें भगवान् राम के नाम की महिमा के सन्दर्भ में विष्णु सहस्रनाम का भी उल्लेख किया गया है।

कहा जाता है कि जगदम्बा पार्वती भोजन से पूर्व विष्णु सहस्रनाम का पाठ नियमपूर्वक नित्य किया करती थीं। पर एक दिन अपरिहार्य कारणों से विलम्ब हो जाने से वे ऐसा नहीं कर सकीं और भगवान् शंकर के भोजन-ग्रहण करने का समय हो गया। पार्वतीजी का दूसरा नियम यह था कि वे भगवान् शंकर के साथ ही भोजन ग्रहण करती थीं। अब तो बड़ा संकट उपस्थित हो गया। 'भोजनकाल आ गया, पर विष्णु-सहस्रनाम का पाठ तो पूरा हुआ ही नहीं! अब दोनों का निर्वाह कैसे हो?'

भगवती पार्वती को चिन्तित देखकर भगवान् शंकर उनकी समस्या समझ गये और बोले—"तुम विष्णु-सहस्रनाम के स्थान पर रामनाम का जप कर लो और भोजन ग्रहण कर लो।" पार्वतीजी ने इसे मान लिया। अब जो विस्तार में विश्वास करता है, वह तो यही कहेगा कि 'हजार के स्थान पर केवल एक नाम?' पर रामरक्षास्तोत्र के अन्त में यही बात कही गयी है कि—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं श्री राम नाम वरानने॥

'एक रामनाम, सहस्रनाम के बराबर है।' भगवान् शंकर इस सत्य को जानते हैं। यह तो उनका स्वयं का अनुभूत सत्य है। पर पार्वतीजी की विशेषता क्या है? वह कह सकती थीं कि 'मैं भोजन कर लूँ, इसलिये आप ऐसा कह रहे हैं! हजार नाम के बराबर एक नाम कैसे हो सकता है?' पर पार्वतीजी को भगवान् शंकर की वाणी पर दृढ़ विश्वास है।

पूर्वजन्म में जब पार्वतीजी सती थीं तो भगवान् शंकर ने उन्हें भगवान् राम की महिमा सुनाई, तो उन्होंने कह दिया कि 'आप जो कह रहे हैं, उसे मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं करती।' पर पार्वतीजी के रूप में वे बिल्कुल बदली हुई हैं। गोस्वामीजी नाम-वन्दना प्रसंग में इसी का संकेत करते हुए कहते हैं कि—

सहसनाम सम सुनि सिव बानी।
जपि जेईं पिय संग भवानी॥१/१८/६

इस सम्बन्ध में गोस्वामीजी एक और भी अनोखी बात कहते हैं। वे कहते हैं कि जब शंकरजी ने रामनाम को सहस्रनाम के तुल्य बताया और पार्वतीजी ने रामनाम लेकर प्रसाद ग्रहण कर लिया, तो भगवान् शंकर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने पार्वतीजी को अपने आधे अंग में धारण कर लिया और अर्धनारीश्वर बन गये। गोस्वामीजी यही कहते हैं कि—

हरषे हेतु हेरि हर ही को।
किय भूषन तिय भूषन ती को॥१/१८/७

उन्होंने पार्वतीजी को आभूषण बनाकर शरीर में धारण कर लिया। पार्वतीजी पूर्वजन्म में सती के रूप में मानो जिज्ञासा थीं। सती के जीवन में जिज्ञासा से जुड़ी हुई समस्याएँ थीं। पर पार्वती के रूप में वे जिज्ञासा से श्रद्धा बन गयीं।

श्रद्धा बुद्धि से उत्पन्न होती है और विश्वास हृदय का धर्म है। भगवान् शंकर साक्षात् विश्वास हैं। यद्यपि श्रद्धा और विश्वास में समीपता है, पर जब दोनों 'रामनाम' पर एकमत हो गये तो जो यत्किंचित् दूरी थी वह भी समाप्त हो गयी और दोनों अभिन्न हो गये।

जो लोग विष्णु सहस्रनाम करते हैं, वे नित्य उसका पाठ करते रहें। मैंने उन्हें रोकने के लिये यह बात नहीं कही है। वे ऐसा करेंगे भी नहीं, क्योंकि जिस पद्धति से अभ्यास होता है, उसी से सन्तोष होता है।

भगवान् शंकर कथा सुनाते-सुनाते उत्तरकाण्ड में पार्वतीजी से कहने लगे—

धन्य सती पावन मति तोरी।
रघुपति चरन प्रीति नहिं थोरी॥७/५४/७

"सती तुम धन्य हो।" 'सती' सम्बोधन सुनकर पार्वतीजी चौंक पड़ीं। पूछा—"महाराज! मुझसे नाराज हो गये हैं क्या? मैं सती पूर्वजन्म

में थी, अब तो मेरा नाम पार्वती है, उमा है!" इस पर भगवान् शंकर बड़ी मीठी बात कहते हैं।

भगवान् शंकर ने कहा—"भले ही तुम्हारा नाम तब सती रहा हो, पर सार्थक तो वह अब हो रहा है। मैं सती की जो परिभाषा मानता हूँ, वह तो तुम इस जन्म में चरितार्थ कर रही हो।"

विवाह में कई मन्त्र बोले जाते हैं जिसमें पति-पत्नी प्रतिज्ञा करते हैं। उसमें एक मन्त्र में दोनों कहते हैं कि—

मम चित्तं ते चित्तमस्तु।

'आज से हम दोनों का चित्त मिलकर सर्वथा एक हो जाय।' अब यदि सचमुच ऐसा हो जाय तो क्या कहने! कहीं कोई विवाद ही नहीं रह जाएगा। इस कथन का अर्थ है कि चित्त का एक हो जाना ही विवाह की चरम परिणति है।

भगवान् शंकर का 'सती' कहने का अभिप्राय यह था कि 'मेरा मन भगवान् राम के चरणों में रहता है और इस जन्म में तुम्हारे मन में भी उनके चरणों में प्रीति उत्पन्न हो गयी है। इस प्रकार हम दोनों का मन एक ही स्थान पर पहुँच गया है। दोनों का मन मिल गया है।' सचमुच इस परिवार के सदस्य धन्य हैं क्योंकि वे राममय हैं। इसीलिये नाम-वन्दना प्रसंग में गोस्वामीजी रामनाम की महिमा बताने के लिये इसी परिवार के तीन सदस्यों का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि—

नाम प्रभाउ जानि सिव नीको।
कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥१/१८/८

भगवान् शंकर ने नाम के प्रभाव से विष को अमृत में परिवर्तित कर दिया। फिर वे कहते हैं कि—

सहस नाम सम सुनि सिव बानी।
जपि जेई पिय संग भवानी॥१/१८/६

पार्वतीजी रामनाम को सहस्रनाम के तुल्य मानती हैं और भगवान् शंकर के साथ रामनाम का जप करती हैं। और वे तीसरा उदाहरण श्रीगणेशजी का देते हुए कहते हैं कि—

नाम प्रभाउ जानि गनराऊ।
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥

गणेशजी तो नाम के प्रभाव से प्रथम पूजा के अधिकारी बन गये। इस प्रकार शिव परिवार में नाम के प्रति श्रद्धा और विश्वास के साथ गणेशजी के रूप में विवेक भी समर्पित दिखाई देते हैं। गणेशजी रिद्धि और सिद्धि के दाता हैं तथा इनके प्रथम पूज्य होने की गाथा भी बड़ी अनोखी है।

'हमारी पूजा हो' प्रायः यह सभी चाहते हैं। मनुष्य ही नहीं, देवता भी चाहते हैं कि सबसे पहले उनकी पूजा हो। सभी सम्मान चाहते हैं और सबसे अधिक सम्मान चाहते हैं।

सभी देवता प्रथम पूजा के लिये व्यग्र थे। प्रश्न आया कि इसका निर्णय कैसे हो कि किसकी पूजा सबसे पहले हो? इसका भार सौंपा गया भगवान् शंकर को। भगवान् शंकर ने शर्त रखी कि 'जो देवता सारे ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके सबसे पहले आएगा, वही प्रथम पूज्य होगा।' घोषणा कर दी गयी।

सारे देवता अपने-अपने वाहनों के साथ निकल पड़े। देवताओं के पास विविध प्रकार के वाहन हैं। कुछ चलनेवाले हैं तो कुछ उड़नेवाले भी वाहन हैं। सबमें कुछ न कुछ गति की तीव्रता है। गणेशजी का वाहन मूषक है। चूहे की धीमी गति होती है। गणेशजी का कलेवर वाहन की तुलना में भारी है। चूहे पर सवार गजानन किस गति से बढ़ते होंगे, इसकी कल्पना करना ज्यादा कठिन नहीं है। इसका एक संकेत तो यह है कि **विवेकी व्यक्ति बहुत तीव्र गति से दौड़ में सम्मिलित नहीं होता। अपितु वह तो विवेकपूर्वक धीमी गति से अपने पग बढ़ाता है।**

गणेशजी भी चूहे पर बैठकर इस अभियान पर निकल पड़े। देवगण तब तक बहुत आगे निकल चुके थे। देव-पत्नियों ने जब देखा कि गणेशजी भी धीरे-धीरे चले आ रहे हैं तो वे उनके पास आकर कहने लगीं—"आप तो विवेक के देवता हैं, पर लगता है आपने इस प्रतियोगिता पर गणित की दृष्टि से विचार नहीं किया है! आपके चूहे की गति और ब्रह्माण्ड की विशालता को देखते हुए क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि आपके लिये प्रथम स्थान पर आना तो सम्भव ही नहीं है? हमें तो लगता है कि आप व्यर्थ का प्रयास कर रहे हैं!"

गणेशजी ने कहा—"देवियो! इतने सारे देवता इसमें भाग ले रहे हैं,

पर इनमें से एक ही तो प्रथम आएगा न! तो क्यों न गति और दूरी की गणना करके एक ही देवता यात्रा पर निकले? पर क्या इस तरह सारे अन्य देवतागण कर्म से विरत नहीं हो जाएँगे? मैं तो यही सोचता हूँ कि सबको अपनी क्षमता के अनुकूल कर्म करने में प्रवृत्त तो होना ही चाहिए।''

गणेशजी ने देवियों की ओर से कोई प्रतिक्रिया न देखकर पुनः कहा कि ''क्या ब्रह्माण्ड की परिक्रमा का अर्थ केवल इतना ही है कि आँख मूँदकर नाक की सीध में दौड़ लगाई जाय और जितनी जल्दी हो सके परिक्रमा पूरी कर ली जाय? मैंने गणित लगाकर खाली बैठने की अपेक्षा इसमें भाग लेना इसलिये उचित समझा क्योंकि इस परिक्रमा मार्ग में न जाने कितने तीर्थ मिलेंगे, देवी-देवताओं के दर्शन होंगे, साधु-सन्त, महात्मा आदि मिलेंगे! यह क्या कोई छोटी बात है?''

इस प्रतियोगिता में एक और विलक्षण दृश्य दिखाई दिया। जिस समय देवता भागे जा रहे थे, दूसरी दिशा से नारदजी आते दिखे। देवताओं ने जब उन्हें देखा तो यह सोचकर चिन्तित हो गये कि ''नारदजी मार्गमें रोककर, कहीं सत्संग न करने लग जाएँ! कोई कथा ही सुनाने न लग जाएँ! और यदि ऐसा हुआ तो उतनी देर में अन्य देवता न जाने कितना आगे चले जाएँगे? और हम पिछड़ जाएँगे! पर उन्हें देखकर प्रणाम न करने पर भी कठिनाई होगी!'' इसलिये प्रत्येक देवता नारदजी की ओर न देखकर दूसरी ओर ऐसे देखने लगा जैसे उन्होंने नारदजी को देखा ही नहीं! सभी जानबूझकर अनदेखी करके आगे निकलते रहे।

देवतागण सत्संग को समय की बर्बादी के रूप में देख रहे थे और सोद्रष्टा थे कि जो कुछ मिलेगा वह पुरुषार्थ से ही मिलेगा। पर विवेक के देवता गणेशजी की दृष्टि सर्वथा भिन्न थी। नारदजी सब कुछ आश्चर्य से देखते हुए अन्त में वहाँ पहुँचे जहाँ गणेशजी थे। गणेशजी ने जैसे ही दूर से नारदजी को देखा, तत्काल अपने मूषक से नीचे उतर कर, हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े हो गये।

नारदजी पास आए तो गणेशजी ने उनके चरणों को प्रणाम किया। नारदजी ने हँसकर पूछा—''आप तो सबसे पीछे हैं। क्या सोचकर परिक्रमा यात्रा पर निकले हैं?'' गणेशजी ने कहा—''महाराज! मैं भी ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करने निकला हूँ। पर प्रथम पूज्य बनने के लिये नहीं निकला

हूँ। पर देखिए न! यदि परिक्रमा पर न निकलता तो आप जैसे सन्त के दर्शन कैसे होते? मुझे तो यात्रा प्रारम्भ करते ही इतना बड़ा लाभ मिल गया।'' इस प्रकार विवेकी पुरुषार्थ को महत्त्व तो देता है, पर उसकी दृष्टि में सन्तों के संग का महत्त्व उससे बहुत अधिक है।

गणेशजी जितने बड़े विवेकी हैं उतने ही बड़े निष्काम कर्मयोगी भी हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सन्त के प्रति उनके मन में श्रद्धा और विश्वास है। नारदजी ने उनकी बात सुनी और बोले—''आप मेरी एक बात मानिये! आप यहीं पर रामनाम लिख लीजिए और उसकी परिक्रमा कर लीजिए।'' गणेशजी ने तुरन्त नारदजी की बात मान ली और वैसी ही परिक्रमा कर ली। यही गणेशजी की महानता है कि उनको सन्त के वचनों पर इतना विश्वास है।

नारदजी ने यदि किसी दूसरे देवता से यह बात कही होती तो वह यही सोचता कि 'अवश्य ही इसके पीछे नारदजी की कोई चाल है, षड्यन्त्र है। वे तो ऐसा उपाय बता रहे हैं कि जिससे हम यहीं चक्कर लगाते रहें और पिछड़ जाएँ।' गोस्वामीजी ने कहा कि गणेशजी रामनाम की महिमा से प्रथम पूज्य बन गये।

नाम प्रभाउ जानि गनराऊ।
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥

वेद भी भगवान् के नाम की ही महिमा का गायन करते हैं। भगवान् राम का जब राज्याभिषेक होता है, उस समय वेद उनकी स्तुति करने के लिये आते हैं। और भगवान् राम की स्तुति करते हुए कहते हैं कि—

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भवनाथ सो समरामहे॥७/१२/छंद-३

वेद में जाने कितने मन्त्र हैं पर उनके स्थान पर केवल नाम जपने की बात बहिरंग दृष्टि से ठीक नहीं जान पड़ती। पर इसके पीछे संकेत यही है कि नाम ही सबके मूल में है। एक सुन्दर दृष्टान्त आता है जिसमें गुरु अपने चार विद्यार्थियों से कहते हैं कि ''हम तुम्हें तुम्हारी योग्यता का प्रमाणपत्र तब देंगे, जब तुम लोग विशाल वटवृक्ष को मेरे पास ले आओगे।''

चार विद्यार्थियों में से तीन ने विचार-विमर्श किया और मजदूरों को इकट्ठा कर एक विशाल वटवृक्ष की खुदाई करवाई और उसे गुरुदेव

के पास ले आए। चौथा शिष्य भी लौटा पर उसके साथ न तो मजदूर थे और न ही कोई वटवृक्ष ही था। हाँ! उसकी एक मुट्ठी बँधी हुई थी। ऐसा लगता था कि उसने अपनी मुट्ठी में किसी वस्तु को पकड़ रखा हो।

गुरुदेव ने उस विद्यार्थी से पूछा—"क्या तुम बरगद का वृक्ष ले आए? मुझे तो वृक्ष दिखाई नहीं दे रहा है।" उस शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! आपकी कृपा से बरगद तो मेरी मुट्ठी में है।" वस्तुतः वह वटवृक्ष का बीज ले आया था। सचमुच सार वृक्ष बीज में ही तो समाया हुआ होता है। गुरुदेव ने प्रसन्न होकर उसकी विवेकशीलता की प्रशंसा की। वटवृक्ष को खोदकर लाना पुरुषार्थ का प्रतीक तो हो सकता है, पर विवेकी तत्त्वज्ञ जानता है कि नन्हें से बीज में ही विशाल वृक्ष छिपा होता है। इसी प्रकार रामनाम भी बीज रूप है जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड समाए हुए हैं।

विस्तार और समेटने की प्रक्रिया प्रकृति में दिखाई देती है। साधना मानो विस्तार है और सिमटकर एक केन्द्र में स्थित हो जाना ही सिद्धि है। अब बाहर कुछ भी नहीं, सब कुछ सिमटकर भीतर आ गया।

भगवान् के चरित्र का वर्णन करने के लिये अनेकानेक रामायणों की रचना हुई। यक्ष, दैत्य, देवता आदि में से प्रत्येक यही चाहते थे कि ये सब उन्हें ही प्राप्त हो जाएँ। कहा जाता है कि इस झगड़े को मिटाने के लिये भगवान् शंकर से प्रार्थना की गयी। भगवान् शंकर ने उसके तीन भाग किए और स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल के निवासियों में बराबर-बराबर वितरित करने लगे। भगवान् शंकर से पूछा गया—"महाराज! आप वितरण में इतना श्रम कर रहे हैं, इसके पारिश्रमिक के रूप में आप क्या लेना चाहेंगे?" भगवान् शंकर ने कहा—"बस, मुझे इनमें से केवल रामनाम चाहिए।" गोस्वामीजी कहते हैं कि—

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बर दानि।
रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि॥१/२५

भगवान् शंकर जानते हैं कि तत्त्वतः रामनाम ही मूल है और इसी रामनाम का विस्तार ही विश्व-ब्रह्माण्ड के रूप में दृष्टिगोचर होता है। विस्तार को भी देखना आवश्यक है। साधना ही मानो विस्तार का दर्शन है। भुशुण्डिजी के जीवन में यह पक्ष भी दिखाई देता है। उनके आश्रम

में वट, पाकरि, पीपल और आम, इन चार प्रकार के वृक्षों का वर्णन आता है जिनके नीचे बैठकर वे चार प्रकार की साधना करते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि—

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप जग्य पाकरि तर करई॥
आँब छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजन काज नहिं दूजा॥
बर तर कह हरि कथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥७/५६/५-७

इनमें से ध्यान के लिये जिस वृक्ष के नीचे वे बैठते हैं उस पर विचार करने से थोड़ा आश्चर्य होता है। भुशुण्डिजी पीपल वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करते हैं। और पीपल का वृक्ष मानो चंचलता का एक प्रतीक है।

तेज हवा चलने पर तो सभी वृक्ष के पत्ते हिलते ही हैं और आवाज भी उत्पन्न करते हैं, पर हवा के न बहने पर भी पीपल-वृक्ष के पत्तों की सरसराहट सुनाई देती है। बहुत मन्द वायु प्रवाह से भी पत्ते चंचल हो उठते हैं। इसीलिये 'मानस' में दशरथजी के व्याकुल मन की चंचलता की तुलना करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि—

पीपर पात सरिस मन डोला।

उनका मन पीपल के पत्तों के समान डोलने लगा।

गतिशील मन के प्रतीक पीपल वृक्ष के नीचे, मन की गति को नियन्त्रित करनेवाली ध्यान की क्रिया का सम्पादन करने की बात लिखने के पीछे गोस्वामीजी का क्या संकेत है?

ध्यान करने के लिये ऐसे स्थान का चुनाव किया जाता है जहाँ शोरगुल न हो, एकान्त हो। पर गोस्वामीजी चंचल पीपल के नीचे ध्यान करने की बात लिखकर मानो यह बताना चाहते हैं कि 'पीपल में ऊपर की ओर देखिए तो सब हिलता हुआ दिखाई देता है। पर ऊपर की ओर न देखकर अगर मूल की ओर, पीपल के जड़ की ओर दृष्टि डाली जाय तो वहाँ कोई हलचल दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार संसार को देखने पर मन चंचल हुए बिना रहेगा नहीं, पर उसके मूल में जाकर देखने से चंचलता का लेश भी दिखाई नहीं देगा। इसका अर्थ है कि ध्यान विस्तार

से मूल की ओर ले जाता है।

जप के विषय में कई लोग यह बताते हुए कि वे कितनी माला शंकरजी की, कितनी दुर्गाजी की तथा कितनी माला रामजी की जपते हैं, मुझसे जानना चाहते हैं कि उनका यह क्रम ठीक है या नहीं? मैं उनका निषेध नहीं करता और कह देता हूँ कि ठीक है। जब ऐसा करने से उनको यदि आनन्द आता है तो फिर यह तो ठीक ही है। इस तरह करने से भी फल तो मिलता ही है। पर बहुत से देवी-देवताओं के नामजप के पीछे बहुधा यह भाव होता है कि यदि एक सहायता न करे तो दूसरे, तीसरे, चौथे, कोई न कोई तो करेंगे ही। इसलिये सबके लिये थोड़ी-थोड़ी माला जपो! सबको मनाए रखो!

एक बार एक सज्जन मेरे पास आए। मेरे सामने तो नहीं, पर एक दूसरे सज्जन से बोले—"पण्डितजी महाराज ने यह क्या नौटंकी फैला रखी है? इतने देवी-देवता एकत्र कर रखे हैं, एक ही देवता को क्यों नहीं रखते?" बाद में भक्तिमती सौजन्यमयी सरलाजी आयीं और दर्शन कर बोलीं—"कितना सुन्दर राम दरबार है!" रामदरबार माने? दरबार में तो सभी देवी-देवता सन्त-महात्मा होते हैं। सिंहासन पर भगवान् राम और उनके दरबार में सब विराजमान हैं। यह एक भावनायुक्त भक्त की दृष्टि है। नौटंकी और सर्कस कहना भी एक दूसरी दृष्टि है।

भगवान् राम के दरबार में सब हैं। अब भगवान् को प्रणाम करते समय हम उन सबको भी तो प्रणाम करेंगे। गोस्वामीजी ने भी 'मानस' के प्रारम्भ में सभी देवी-देवताओं की वन्दना की है। किसी को छोड़ा ही नहीं है। यहाँ तक कि सन्तों की वन्दना करने के बाद उन्होंने असन्तों की भी वन्दना की है।

किसी ने गोस्वामीजी से कहा—"महाराज! आप असन्तों की वन्दना भी कर रहे हैं और उनके दोष भी गिना रहे हैं? वे वन्दनीय हैं या निन्दनीय हैं?" गोस्वामीजी ने बड़ी सुन्दर बात कही जो जीवन में अत्यन्त उपयोगी है।

बहुधा देखा जाता है कि हम जिनमें गुण देखते हैं उनसे हमें राग हो जाता है तथा जिन व्यक्तियों में हम दोष देखते हैं उनसे द्वेष हो जाता है। इस दृष्टि से गुण-दोष देखने का परिणाम होता है कि हमारे भीतर

बन्धनकारी और दुःख देनेवाले राग और द्वेष ये दोनों विकार पैठ जाते हैं। अतः यह दृष्टि ठीक नहीं है।

गोस्वामीजी दोष और गुण का जो वर्णन करते हैं उसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि—

तेहि ते कछु गुन दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥१/५/२

गुण देखने के बाद गुणी व्यक्ति से राग करने के स्थान पर गुण को ग्रहण कर उसके संग्रह की वृत्ति आनी चाहिए। और उसी प्रकार दोष-दर्शन के पीछे दोषी व्यक्ति से द्वेष या घृणा करने के स्थान पर दोषों को त्यागने की वृत्ति आ जाय, तो गुण और दोष कल्याणकारी हो जाएँगे। 'गुणों का संग्रह और दोषों का परित्याग' यही गोस्वामीजी की दृष्टि है। इसलिये वे देवता, सन्त, असन्त, ग्रह, नक्षत्र, राक्षस आदि सबकी वन्दना करते हैं। और इसके द्वारा वे एक और गम्भीर सूत्र देते हुए मूलतत्त्व की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि—

सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

'यह समष्टि तो भगवान् राम का ही दरबार है। हमारे प्रभु ही सर्वत्र विविध रूपों में विद्यमान् हैं।' इस तरह वे सबकी वन्दना के माध्यम से प्रभु राम की ही वन्दना करते हैं। यही मूलतत्त्व की सिद्धि का द्योतक है।

व्यक्ति कितना ही बाहर विस्तार कर ले, अन्ततोगत्वा उसे सब कुछ समेटकर भीतर, मूलतत्त्व तक लौटना ही पड़ता है। इसका अनुभव हमें जीवन में प्रतिदिन होता ही रहता है।

व्यक्ति दिन में व्यापार-व्यवहार के लिये घर से निकलकर नगर में जाता है, घूमता-फिरता है पर रात्रि होते ही जब उसे विश्राम की आवश्यकता होती है तो वह बाहर से घर लौटता है। उल्टी यात्रा शुरू हो जाती है। नगर से मोहल्ले में, मोहल्ले से घर में। घर में भी अपने कक्ष में। वहाँ पत्नी से कुछ देर मीठी-मीठी बात करने के बाद उसके मन में यह बात अवश्य आती है कि अब यह वार्तालाप बन्द होना चाहिए। व्यक्ति अद्वैत की स्थिति में जाकर निद्रा के माध्यम से शान्ति की प्राप्ति करना चाहता

है। इस तरह व्यक्ति का शरीर ही बताता है सुख के लिये यदि हम बाहर जाते हैं तो शान्ति के लिये हमें भीतर लौटना होगा।

भगवान् शंकर शतकोटि रामायणों में से रामनाम को ही अपने लिये चुनते हैं और वे उसी का दिन-रात जप करते हैं। पार्वतीजी उनसे यही कहती भी है कि–

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती।
सादर जपहु अनँग आराती॥१/१०७/७

अब यह सोचकर कि 'भगवान् शंकर रामायण के अनादि निर्माता हैं और स्वयं रामायण का पाठ नहीं करते' आप लोग रामायण का पाठ करना बन्द मत कर दीजिएगा। रामायण का मास पारायण करना, नवाह्न पारायण करना और नित्यपारायण करना ये सबके सब अत्यन्त कल्याणकारी तो हैं ही। पर शंकरजी मानो बताना चाहते हैं कि भगवान् राम ने अवतार लेकर अपनी लीला का विस्तार किया, रामायण के रूप में प्रभु के उस विग्रह में तदाकार होकर भी व्यक्ति आनन्द पा सकता है, पर रामनाम मूलतत्त्व के रूप में उसी ईश्वर का शब्दमय विग्रह है। इस तरह रामनाम में सबकी सब रामायणों का समावेश तो है ही। 'नामनिरूपण' से व्यक्ति को इस सत्य का ज्ञान हो जाता है।

रामनाम के विषय में भगवान् शंकर से जुड़ी एक बड़ी अनोखी बात पद्मपुराण में आती है। उसमें वर्णन आता है कि पार्वतीजी देखती हैं कि जब कोई भगवान् शंकर के सामने रावण, रात्रि या राजा आदि शब्दों का उच्चारण करता है तो वे समाधि में चले जाते हैं। पार्वतीजी से नहीं रहा गया। उन्होंने एक दिन भगवान् शंकर से कहा–"महाराज! मैं आपसे एक प्रश्न करूँगी पर इसमें कुछ ऐसे शब्द भी आएँगे, जिन्हें सुनकर आप समाधि में चले जाते हैं। अतः मेरी प्रार्थना है कि आज आप समाधि में न जाकर, मेरे प्रश्न का उत्तर मुझे दें!" फिर पार्वतीजी ने आगे कहा कि "महाराज! एक दिन मैंने देखा कि जैसे ही आपने 'रावण' शब्द सुना आप समाधि में चले गये। मैंने सोचा आपका अपने शिष्य के प्रति बड़ा स्नेह है। पर 'राजा' और 'रात्रि' आदि शब्दों को सुनकर भी आपकी वही स्थिति हो जाती है! महाराज! मैं तो कुछ समझ ही नहीं पा रही हूँ!"

भगवान् शंकर ने कहा–"पार्वती! तुमने तो आज दुःखी कर दिया! जब कोई ऐसे शब्द बोलता है कि जिसमें 'र' हो, तो मैं यही समझता हूँ कि वह राम ही जप रहा होगा और उस 'र' से आगे तो मैं कुछ सुन ही नहीं पाता–

रकारादीनि नामानि शृण्वतामपि पार्वति।
मनः प्रसन्नतां याति रामनामाभिः संशया॥

और मेरा मन आनन्द में डूब जाता है।"

इसका अर्थ है कि दो अक्षर का यह दिव्य रामनाम सृष्टि तत्त्व का मूल है। यदि साधना के बाद रामनाम में इतना आनन्द आने लगे, सारा ब्रह्माण्ड ही इसमें दिखाई देने लगे, तो साधक निस्सन्देह मूल तत्त्व तक पहुँच चुका है। वेद भी इस नाम की महिमा और उसके जप का समर्थन करते हैं।

ब्रह्म की, शब्द के रूप में, जो अभिव्यक्ति है वह प्रणव और रामनाम इन दो रूपों में ही होती है। जो विशुद्ध निर्गुण-निराकारवादी हैं वे प्रणव में स्थित हो सकते हैं, पर जो सगुण और निर्गुण दोनों का आनन्द लेना चाहते हैं, वे रामनाम का आश्रय लेकर आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये गोस्वामीजी से जब पूछा गया कि आपको रामनाम इतना प्रिय क्यों है? तो गोस्वामीजी ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया।

उन्होंने कहा–"अँधेरा हो तो दीपक चाहिए, और यदि ऐसा दीपक मिल जाय जिससे घर के भीतर और बाहर दोनों ओर उजाला हो तो कितना अच्छा होगा!" फिर यह बताते हुए कि ऐसा दीपक तो रामनाम ही है, वे कहते हैं कि–

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जो चाहसि उजियार॥ (दोहावली-६)

जीभरूपी देहरी पर रामनाम का दीपक रख दीजिए, इससे भीतर और बाहर दोनों ओर ही उजाला हो जाएगा। वे रामनाम को 'मणि-दीप' कहकर यह भी संकेत करते हैं कि तेल-बाती वाले दीपक के साथ तो बुझने का डर हो सकता है, पर यह रामनाम तो मणि-दीप होने से कभी भी नहीं बुझ सकता।

गोस्वामीजी बताना चाहते हैं कि भगवान् के नाम के जप से भीतर

ब्रह्म सत्य की अनुभूति और बाहर अवतार लेकर प्रभु की दिव्य लीला, इन दोनों का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। प्रभु का यह नाम परम सरल है। पर जो सरल होता है उसके साथ एक ही समस्या है कि उसमें बहुधा व्यक्ति विश्वास नहीं कर पाता। इसीलिये प्रभु बताते हैं कि–

मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥

नामजप के साथ विश्वास का होना परम आवश्यक है।

॥बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय॥

□

अष्टम प्रवचन

भगवान् राम शबरीजी के सामने अपनी छठी भक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

छठ दम सील बिरति बहु करमा।
निरत निरन्तर सज्जन धरमा॥३/३५/२

'इन्द्रिय-दमन, वैराग्य तथा निरन्तर सज्जनों के धर्म में प्रवृत्त रहना मेरी छठी भक्ति है।'

प्रभु इस भक्ति की व्याख्या में सबसे पहले जिस शब्द का प्रयोग करते हैं वह है **'दम'**। इन्द्रिय-दमन या मन के दमन कहने के पीछे प्रभु का भाव है कि जहाँ गति और शक्ति होती है उसे नियन्त्रित करना परमावश्यक है।

गति और शक्ति के बिना व्यक्ति के कार्य समग्र रूप से सम्पन्न नहीं हो सकते। पर जहाँ ये दोनों हों, वहाँ दुर्घटना की आशंका भी बनी रहती है। इसलिये तीव्र गति के वाहनों में 'ब्रेक' अवश्य होते हैं। अन्यथा गति विनाशकारी भी सिद्ध हो सकती है। इससे जुड़ा बम्बई का एक संस्मरण मैं नहीं भूल पाता।

कई वर्ष पूर्व जब मैं बम्बई गया तो मुझे सड़क के किनारे एक स्मारक-सा दिखाई दिया। मैंने उत्सुकतावश पूछा–"यह किसका स्मारक है?" मेरे साथ जो सज्जन थे उन्होंने कहा–"अच्छा हो, यदि आप स्वयं निकट जाकर देख लें!" मैंने पास जाकर देखा और उस पर जो कुछ लिखा था, उसे पढ़ा तो दुःख भी हुआ और हँसी भी आई। उसमें जीवन का एक व्यंग्यात्मक सत्य अंकित था।

वह स्तम्भ एक शहीद स्तम्भ था, पर देश पर, किसी परोपकार या सद्कार्य के लिये मर-मिटने वालों का स्मारक नहीं था, अपितु वह जल्दबाजी और तीव्रगति से वाहन चलाने के कारण सड़क दुर्घटना में मरनेवालों के नाम पर बना था। उस पर लिखा हुआ था कि 'यह स्मारक उन शहीदों की स्मृति में बनाया गया है जिन्होंने पाँच मिनट बचाने के लिये अपने प्राण दे दिए।' यह स्मारक जीवन के इस व्यंग्यात्मक पक्ष को याद दिलाने के लिये बनाया गया था।

गति पर नियन्त्रण की आवश्यकता केवल वाहनों तक ही सीमित न होकर व्यापक है। इस दृष्टि से तीव्रतम गति वाले मन तथा इन्द्रियों को भी नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता है। अन्यथा इनकी गति भी दुःखदायी और विनाशकारी हो सकती है। इसीलिये भगवान् राम जब विभीषण के समक्ष धर्मरथ का वर्णन करते हैं तो रथ की गति और दिशा नियन्त्रण के लिये अत्यन्त उपयोगी सूत्र प्रदान करते हैं।

लंका के रणांगण में भगवान् राम और रावण आमने-सामने खड़े हैं। एक ओर रावण एक सुसज्जित और शक्तिशाली रथ पर सवार है तो दूसरी ओर भगवान् राम के पास न तो रथ है, न कवच है। यहाँ तक कि उनके पाँव में जूते तक नहीं हैं। इस दृश्य को देखकर विभीषणजी का हृदय संशय से भर उठता है। वे कहते हैं कि 'बिना रथ के इस युद्ध में विजय पाना क्या सम्भव है?' भगवान् राम उस समय विभीषणजी को उपदेश देते हैं। इस दिव्य उपदेश को रामगीता की संज्ञा दी जा सकती है।

भगवान् राम विभीषणजी से कहते हैं—"हे सखे विभीषण! तुम्हारा भाई जिस रथ पर बैठा दिखाई दे रहा है, वह विजय दिलानेवाला रथ नहीं है।" भगवान् राम उन्हें पहले विजय की परिभाषा समझाते हैं।

सामान्यतया जब कोई व्यक्ति युद्ध में, न्यायालय में अथवा चुनाव आदि में प्रतिद्वन्द्वी को परास्त कर देता है तो यही कहा जाता है कि उस व्यक्ति ने विजय प्राप्त कर ली। पर इस विजय के साथ कुछ समस्याएँ हैं। क्या हम ऐसी विजय को शाश्वत कह सकते हैं? जो व्यक्ति इस प्रकार एक बार विजय प्राप्त कर ले, क्या वह फिर कभी नहीं हारेगा? इतिहास तो यही बताता है कि आज का विजेता कल पराजित हो सकता है। महाभारत और भागवत में एक कथा आती है जो यही बताती है।

वर्णन आता है कि भगवान् कृष्ण के परमधामगमन के पश्चात् अर्जुन द्वारिका गये और वहाँ से यदुवंशी स्त्रियों, बच्चों व सम्पत्ति आदि को साथ लेकर वापस लौट रहे थे। मार्ग में लुटेरों ने उन पर आक्रमण कर दिया। अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ, उन्हें लगा कि ये लोग मुझे नहीं जानते इसलिये ऐसा दुस्साहस कर रहे हैं। अर्जुन ने उनसे पूछा—"क्या तुम लोग जानते हो कि जिसे तुम लोग चुनौती दे रहे हो, वह कौन है?"

—"हाँ, हाँ! हम अच्छी तरह से जानते हैं कि आप पाण्डवों में से एक अर्जुन हैं।"

—"फिर भी तुम लोग यह दुस्साहस कर रहे हो? तुम लोग यदि जीवित रहना चाहते हो तो लौट जाओ। अन्यथा अपने बाणों से सबका संहार कर दूँगा।" अर्जुन ने कहा।

पर उन्होंने जब अर्जुन की बात पर ध्यान नहीं दिया तो अर्जुन ने गाण्डीव को चढ़ाकर उस पर बाण चलाना चाहा। पर वे ऐसा नहीं कर सके। और उस महान् धनुर्धर, जिसने महाभारत के युद्ध में बड़े-बड़े योद्धाओं को पराजित किया था, के आँखों के सामने ही वे लुटेरे सब कुछ लूट कर ले गये।

इस घटना का महत्त्व यही बताने के लिये है कि कोई भी विजेता यह नहीं कह सकता कि वह कभी पराजित नहीं होगा। अर्जुन-जैसा महत्तम योद्धा भी जब साधारण लुटेरों से पराजित हो सकता है तो दूसरों की बात ही क्या है?

भगवान् राम ने कहा—"विभीषण! सच्ची विजय तो ऐसी होनी चाहिए जो फिर कभी पराजय में न बदले। और उसके लिये जिस रथ पर सवार होकर युद्ध करना चाहिए वैसा रथ रावण के पास नहीं है।" फिर प्रभु उस विजय रथ की विस्तृत व्याख्या विभीषणजी के समक्ष करते हैं।

रथ में कुछ बातों का होना आवश्यक है। रथ में गति तो होनी ही चाहिए और रथ को गतिशील बनाने का कार्य घोड़ों के माध्यम से ही होगा। धर्मरथ के वर्णन में कहा गया है कि—

बल बिबेक दम परहित घोरे। ७/७९/५

'बल, विवेक, इन्द्रिय दमन और परोपकार ये रथ के चार घोड़े हैं।' इन चार घोड़ों में से दो घोड़े आगे होंगे और शेष दो उनके पीछे। यहाँ

यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि चारों में से कौन-से घोड़े आगे रहेंगे तथा कौन-कौन से घोड़े उनके पीछे रहेंगे? क्योंकि इसी चयन पर ही रथ की गति और दिशा का निर्धारण होगा।

धर्मरथ में **परोपकार** और **इन्द्रियदमन** ये दोनों घोड़े आगे रहें तथा **बल** और **विवेक** रूपी घोड़े क्रमशः उनके पीछे रहें तो रथ सही दिशा में नियन्त्रित गति से अग्रसर होगा।

इसका अर्थ है कि हमारे जीवन का लक्ष्य परोपकार ही है। परोपकार के लिये यदि हम बल का उपयोग कर रहे हैं तो यह सदुपयोग है। पर यदि बल का उपयोग व्यक्तिगत अहंकार-विजय के लिये कर रहे हैं तो इससे बढ़कर बल का कोई दुरुपयोग नहीं हो सकता। बल उसी दिशा में लगे जिससे परहित हो।

इसी प्रकार इन्द्रिय-दमन के पीछे विवेक के घोड़े हों, यही सही क्रम है। बहुत से ऐसे बुद्धिवादी हैं जो इन्द्रिय-दमन की निन्दा करते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने आपको विचारक भी मानते हैं। पर भगवान् राम तो यह सन्देश देते हैं कि विवेक के द्वारा 'दम' का समर्थन करना चाहिए, मनमाने भोगों का नहीं। इसके साथ-साथ एक और भी महत्त्वपूर्ण बात प्रभु कहते हैं।

घोड़े श्रेष्ठ हों, उनके आगे और पीछे चलने का क्रम ठीक हो, उनमें सामंजस्य हो, इतना ही यथेष्ट नहीं है, उनको नियन्त्रित करने के लिये लगाम भी अवश्य होनी चाहिए। और यह लगाम एक योग्य सारथी के हाथों में होनी चाहिए।

एक प्रसिद्ध विजेता के विषय में कहा जाता है कि विजय प्राप्ति के बाद लोगों ने उसके सामने एक हाथी लाकर खड़ा कर दिया और बोले—'आप इस पर बैठ जाएँ कि जिससे आपके पीछे लोग आपकी जय-जयकार करते हुए चल सकें।' वह विजेता क्रूर तो था ही, पर नीतिकुशल भी था। वह हाथी के पास गया और उसने पूछा—'इसकी लगाम कहाँ है?' और जब उसे बताया गया कि हाथी की कोई लगाम नहीं होती, तो उसने उस पर बैठना अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि 'मैं किसी ऐसे वाहन पर नहीं बैठूँगा जिसमें लगाम न हो।' युद्ध में इसीलिये हाथी की अपेक्षा घोड़े अधिक उपयोगी सिद्ध हुए।

पुराने जमाने में सेना के चार अंग होते थे—पैदल, घुड़सवार, गजारूढ़ और रथी। हाथी पर सवार भले ही सर्वश्रेष्ठ योद्धा के रूप में दिखाई देते थे। पर समस्या कम नहीं थी। वर्णन आता है कि पुरु की सेना में बहुत से हाथी थे, जो सेना के आगे-आगे चल रहे थे। सिकन्दर की सेना में घोड़े थे जो नियन्त्रित थे। आक्रमण के समय आघात लगने से हाथी पीछे की ओर भागे और उन्होंने अपनी ही सेना को रौंद डाला। इतिहास का यह सत्य जीवन का भी सत्य है। यह ध्यान रखना परम आवश्यक है कि हमारे जीवन में कहीं कोई ऐसा वाहन तो नहीं है, जो हमें ही रौंद डाले! अश्व में शक्ति है। आज भी 'हार्सपावर' के रूप में शक्ति का अंकन किया जाता है। इस अश्व की विशेषता यही है कि इसमें लगाम है, जिससे इसकी गति और दिशा का नियन्त्रण सम्भव है।

लगाम जिन तीन रस्सियों से बनती है, वे हैं—

छमा कृपा समता रजु जोरे।७/७९/६

यह लगाम जिस सारथी के हाथ में हो उसे अत्यन्त कुशल होना चाहिए। धर्मरथ के घोड़ों की लगाम तो—

ईस भजन सारथी सुजाना।७/७९/७

भगवान् को सारथी बनाकर उनके ही कर-कमलों में सौंप देना परम कल्याणकारी है।

वैसे भी, 'मानस' में वर्णन आता है कि भगवान् राम को अश्व अत्यन्त प्रिय हैं। श्रीभरत भी यद्यपि सभी वाहनों के संचालन में कुशल हैं पर अश्व-संचालन में उनकी विशेष रुचि है। जनकपुर से समाचार पाने के बाद बारात के प्रस्थान की तैयारी करने के लिये महाराज दशरथ भरतजी को बुलाते हैं और अश्वारूढ़ बारातियों की व्यवस्था का भार उन्हें ही सौंपते हैं। भरतजी भी बड़े उत्साह से यह व्यवस्था करते हैं—

भरत सकल साहनी बोलाए।
आयसु दीन्ह मुदित उठि धाए॥१/२९७/३

इसका सांकेतिक अर्थ है कि मन और इन्द्रियाँ मानो चंचल घोड़े की तरह हैं जिनका नियन्त्रण या तो ईश्वर कर सकता है अथवा ईश्वर का भक्त कर सकता है। गोस्वामीजी अश्व से जुड़ी एक सुन्दर झाँकी का वर्णन भगवान् राम के विवाह-प्रसंग में भी करते हैं।

आजकल विवाह मण्डप तक दूल्हे को ले जाने के लिये कई प्रकार के वाहनों का प्रयोग किया जाता है। अयोध्या से भी रथ, हाथी, घोड़े सभी वाहन बारातियों के साथ आए थे। पर यह निर्णय किया गया कि भगवान् राम दूल्हे के रूप में घोड़े पर ही सवार होकर जाएँगे। इसमें भी एक सुन्दर संकेत निहित है।

विवाह को धर्म से जोड़ने की हमारी परम्परा रही है। व्यवहार में तो ऐसा लगता है और कुछ लोग यही मानते हैं कि यह तो पति-पत्नी का मामला है, फिर इसमें यह सब करने की क्या आवश्यकता है? यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में स्वाभाविक रूप से भोग-विलास की वृत्ति रहती ही है। इस रूप में विवाह से काम भी जुड़ा हुआ है। पर हमारे शास्त्र कहते हैं कि विवाह का सम्बन्ध, केवल वर-कन्या के बीच का सम्बन्ध न होकर, समाज से भी जुड़ा हुआ है। क्योंकि वे दोनों समाज के अंग हैं। धर्मसापेक्ष परिणय के पीछे यही संकेत है कि जीवन में अनियन्त्रित भोग नहीं, नियन्त्रित भोग को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। अश्व पर आरूढ़ होकर चलने का भी यही भाव है कि भोगों की दिशा में चलें पर लगाम के साथ चलें, नियन्त्रण के साथ चलें।

भगवान् शंकर विवाह करने के लिये चले तो घोड़े पर सवार होकर नहीं, बैल की पीठ पर आरूढ़ हो गये। वृष धर्म का प्रतीक है। भगवान् शंकर साक्षात् विश्वास-रूप हैं। इसका अर्थ है कि मानो विश्वास ने धर्म पर आरूढ़ होकर ही अपने जीवन में विवाह को स्वीकार किया।

भगवान् शंकर के जीवन में न तो विवाह की कामना है और न ही आवश्यकता है। वे तो केवल इसलिये विवाह करते हैं कि जिससे तारकासुर का वध हो सके और संसार उसके अत्याचार से मुक्त हो जाय। पर भगवान् राम जीवन में अनुराग, आसक्ति और गार्हस्थ्य जीवन को स्वीकार करते हैं। पुष्पवाटिका में जनकनन्दिनी सीता की सुन्दरता से सम्मोहित हो जाते हैं और उनके प्रति अपने अनुराग की बात भी प्रकट रूप से स्वीकार करते हैं। लगता है कि वहाँ शृंगार और काम आदि सब विद्यमान् हैं। पर वहाँ पर भी संकेत सूत्र वही है।

इसका अर्थ है कि काम के अभाव में संसार की सृष्टि तो होगी नहीं, अतः काम तो अनिवार्य है। पर धर्म के द्वारा काम को नियन्त्रित

करना ही सर्वश्रेष्ठ पद्धति है। गोस्वामीजी ने इसे एक काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है।

भगवान् राम के विवाह में सभी देवता भी आए हुए हैं। भगवान् शंकर भी हैं। भगवान् शंकर कामारि हैं और विवाह में काम की महिमा है। विवाह के मन्त्रों में काम ही देवता है, पूज्य है। यह तो विचित्र विरोधाभास है कि कामारि काम की महिमा के उत्सव-पर्व में विद्यमान् हैं! पर दोनों के बीच विभाजन अथवा सामंजस्य की रेखा कहाँ पर है?

भगवान् राम इस अवसर पर जिस घोड़े पर सवार होते हैं गोस्वामीजी उसकी सुन्दरता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

जेहि बर बाजि राम असवारा।
तेहि सारदउ न बरनै पारा॥१/३१६/१

सरस्वती भी उसके सौन्दर्य का वर्णन नहीं कर सकतीं। उस घोड़े का जीन भी बड़ा सुन्दर है–

जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मनि मानिक लसे।१/३१५/छंद

फिर उसके लगाम की प्रशंसा करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि–

किंकिन ललाम लगामु बिलोकि सुर नर मुनि ठगे।१/३१५/छंद

अश्व के सौन्दर्य को देखकर सब चकित हो गये और सोचने लगे कि यह घोड़ा कहाँ का है? अयोध्या से आया है या जनकपुर का है? गोस्वामीजी कहते हैं कि–

जनु बाजि बेषु बनाइ मनसिजु राम हित अति सोहई।
आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई॥१/३१५/छंद

काम ही घोड़े का रूप बनाकर आ गया है। मानो काम को लगा कि मेरी गति और चंचलता का इससे बढ़कर और सदुपयोग कौन-सा होगा? इसलिये घोड़े के रूप में ही चलकर भगवान् राम के विवाह में शामिल होना चाहिए। भगवान् उस घोड़े पर बैठ गये तो एक अनोखा दृश्य उपस्थित हो गया। भगवान् शंकर ने देखा तो–

संकरु राम रूप अनुरागे।१/३१६/२

शंकरजी सहज विरागी हैं पर आज अनुरागी बनकर अश्वारूढ़ दूल्हे राम को देख रहे हैं।

ब्रह्माजी भी भगवान् राम के रूप का दर्शन कर रहे हैं। पर वे बहुत

प्रसन्न नहीं लग रहे हैं, क्योंकि उनके चार सिर हैं, इसलिये वे केवल आठ नेत्रों से ही देखने का लाभ पा रहे हैं। वे सोचते हैं कि मेरे पास और नेत्र होते तो और अधिक आनन्द ले पाता। पहले ब्रह्माजी के पाँच सिर थे, पर शंकरजी ने उनका एक सिर काट दिया था। वे यह सोचकर पछता रहे हैं कि मेरा पाँचवाँ सिर भी होता तो मैं दस नेत्रों से प्रभु का रूप देखता–

निरखि राम छबि बिधि हरषाने।
आठइ नयन जानि पछिताने॥१/३१५/४

पितामह ब्रह्माजी के पास ही देवताओं के सेनापति स्वामी कार्तिकेय बैठे थे। उन्होंने ब्रह्माजी के क्षोभ को समझ लिया और सोचने लगे कि मैं तो आज पितामह से इस नेत्रयज्ञ में बाजी मार ले गया–

सुर सेनप उर अधिक उछाहू।
बिधि ते डेवढ़ लोचन लाहू॥१/३१६/५

कार्तिकेय जी षडानन हैं। उनके बारह नेत्र हैं। ब्रह्माजी से डेढ़ गुना अधिक नेत्र पाकर वे आज अत्यन्त पुलकित हैं।

भगवान् शंकर अनुराग से तो देख रहे हैं पर गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान् शंकर के पाँच सिर हैं और प्रत्येक सिर में तीन-तीन नेत्र हैं। पर माना यह जाता है कि भगवान् शंकर अपना तीसरा नेत्र बन्द रखते हैं और जब प्रलय करना चाहते हैं तब उनका तृतीय नेत्र खुलता है और सारी सृष्टि भस्म हो जाती है। काम को भी भगवान् शंकर ने अपने तीसरे नेत्र से ही भस्म कर दिया था। अब होना तो यह चाहिए था कि वे विवाह का आनन्द उत्सव देखने आए हैं इसलिये वे अपने उन पाँच आग्नेय नेत्रों को बन्द रखें। पर गोस्वामीजी लिखते हैं कि–

संकरु राम रूप अनुरागे।
नयन पंच दस अति प्रिय लागे॥१/३१६/२

भगवान् शंकर को अपने पाँच और दस नेत्र बड़े प्रिय लगे। भगवान् शंकर के नेत्र पन्द्रह हैं पर गोस्वामीजी ऐसा न कहकर 'पाँच और दस' इस रूप में लिखते हैं। गोस्वामीजी साहित्य में कभी-कभी गणित का अनूठा प्रयोग करते हुए अंकों को लेकर बहुत बड़ी बात कह देते हैं। वन में अयोध्यावासियों के सन्दर्भ में भी वे इसी शैली से अंकों का प्रयोग करते हैं।

अयोध्यावासी भगवान् राम से मिलने वन में गये तो सोचने लगे कि 'अब हम लोग प्रभु के साथ ही रहेंगे।' कोई पूछ सकता है कि 'तुम लोग कितने दिनों तक वन में उनके साथ रहोगे?' गोस्वामीजी के लिखने की शैली देखिए! वे अयोध्यावासियों की भावना को व्यक्त करने के लिये यह नहीं लिखते कि वे चौदह वर्षों तक प्रभु के साथ वन में रहने की इच्छा रखते हैं, अपितु वे लिखते हैं कि–

सुख समेत संबत दुइ साता।

'दो सात' अर्थात् चौदह! चौदह को सबसे कम करके बोलना हो तो 'दो सत्ते' (चौदह) ही कहा जाएगा। मानो वे बताना चाहते हैं कि 'दो-सात' बीतने में कितना समय लगेगा? सीधे चौदह कहना मानो समय की एक लम्बी अवधि-सी लगती है, पर दो-सात से ऐसा ध्वनित होता है कि बस, थोड़ा से ही समय काटने की तो बात है! भगवान् शंकर के नेत्रों को भी 'पंच-दस' कहकर भी वे इसी तरह की एक मीठी बात कहते हैं।

भगवान् शंकर के पाँच नेत्र शेष दस नेत्रों से भिन्न प्रकार के हैं। यह बात सभी जानते हैं कि इन पाँच नेत्रों में दाहकता है। काम के पंचबाण क्या स्वयं काम भी उन नेत्रों के सामने टिक नहीं सकता। पर आज तो विचित्र दृश्य है। भगवान् शंकर के पाँचों नेत्रों के खुले रहने पर भी अश्व के रूप में जो काम है, वह ज्यों का त्यों खड़ा हुआ है। और इतना ही नहीं, वह भगवान् शंकर की ओर देखकर मुस्करा भी रहा है।

भगवान् शंकर से जब अश्व की ओर देखते हैं तो समझ जाते हैं कि यह तो काम है। उसके मुख पर जो हँसी थी उसका भाव भी वे समझ जाते हैं। मानो काम शंकरजी से कह रहा था कि 'महाराज! उस दिन तो आपने मुझे बस एक ही तीसरे नेत्र से भस्म कर दिया था, पर आज तो पाँच-पाँच नेत्र खोलकर भी मुझे भस्म नहीं कर पा रहे हैं? आज आपको क्या हो गया है?'

भगवान् शंकर ने कहा–'तुम भस्म होगे या नहीं इसका पता तो तुम्हें तब चलेगा जब भगवान् राम तुम्हारे ऊपर से उतर जाएँगे। जब तक वे तुम्हारे ऊपर सद्रष्टों, तब तक ही तुम बचे हुए हो।' **जो काम भगवान् के द्वारा नियन्त्रित है, जिस काम का मन राम में लीन है, जिसकी लगाम प्रभु के हाथ में है और जो संसार की नहीं भगवान् राम की सेवा में प्रस्तुत**

है ऐसा काम तो निस्सन्देह अनर्थ और अमंगलकारी नहीं हो सकता। गोस्वामीजी कहते हैं कि–

प्रभु मनसहिं लयलीन मनु चलति बाजि छबि पाव।
भूषित उड़गन तड़ित घनु जनु बर बरहि नचाव॥१/३१६

काम का मन-मयूर रामघन की छवि में निमग्न होकर आनन्दपूर्वक नृत्य कर रहा है।

मनुष्य को जो इन्द्रियाँ मिली हुई हैं वे सभी भोगोन्मुख हैं। पंचेन्द्रियों की आसक्ति की प्रबलता के कारण व्यक्ति निरन्तर विषयों में ही फँसा रहता है। कवि कहता है कि–

कान निरन्तर गान-तान सुनिबो ही चाहत।
आँखें चाहति रूप रैन दिन रहत सराहत॥
नासा अतर सुगंध चहत फूलन की माला।
त्वचा चहति सुख सेज संग सुंदर तनु बाला॥

पाँचों इन्द्रियों की अपनी-अपनी माँगें हैं और वे इतनी अधिक हैं कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी इन इंद्रियों को तृप्त करने में लग जाय तो वह–

इन परपंच सों राजन को भिक्षुक किया।

राजा से भिखारी बन जाएगा पर इनकी तृप्ति नहीं कर पाएगा।

श्रीमद्‌भागवत पुराण में एक श्लोक आता है, जिसमें कहा गया है कि–

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः काम हतस्य ते।
(श्रीमद्‌भागवत-९/१९/१३)

पृथ्वी में जितने भी धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं वे सबके सब मिलकर भी कामनायुक्त एक पुरुष के मन को भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते।

मनुष्य की यह स्थिति है कि उसकी विषय की भूख मिटनेवाली नहीं है। इसलिये उसके लिये यह आवश्यक है कि वह जीवन में नियन्त्रित रूप से ही भोगों को स्वीकार करे। 'मानस' में इसी की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि–

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा।
सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं।
प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥२/१२८/१,२

ईश्वर को समर्पण करके उनके प्रसाद के रूप में इन सबको स्वीकार करना ही कल्याणकारी हो सकता है। इसलिये छठवीं भक्ति में पहला शब्द 'दम' ही है। पर दम के साथ एक बहुत बड़ी समस्या है। बहुधा 'दम' वाले व्यक्ति दूसरों की भावना का ध्यान नहीं रखते। इसलिये भगवान् राम दम के साथ एक और शब्द जोड़ते हुए कहते हैं कि–

छठ दम सील

'दम' के साथ शील का होना भी आवश्यक है। दूसरों की भावना का ध्यान रखनेवाला, दूसरों के दुःख को समझकर उसके अनुरूप आचरण करनेवाला व्यक्ति शीलवान् कहलाता है।

'शील' को 'मानस' में सबसे बड़ा प्रशंसनीय गुण माना गया है। भगवान् राम के जिस गुण पर संसार के सभी लोग मुग्ध हैं, वह उनका शील ही है। 'शील सिन्धु राघव' और 'माधुर्य मूर्ति माधव' के रूप में ही दोनों अवतारों, भगवान् राम और भगवान् कृष्ण का सर्वश्रेष्ठ गुणवाचक परिचय दिया जा सकता है।

इन्द्रियदमन करनेवालों में बहुधा एक अभिमान आ जाता है। 'मैं कितना संयमी हूँ, कितना बड़ा त्यागी हूँ' यह वृत्ति उनमें आ जाती है। अपनी इस श्रेष्ठता के इस अहं के कारण प्रायः उनमें शील का अभाव देखा जाता है। ऐसे साधकों, तपस्वियों के लिये यह गुण-अवगुण जो भी है, भक्तों के जीवन में दम के साथ शील का होना परम आवश्यक है।

'मानस' के ज्ञानदीपक-प्रसंग में बहुत मीठी बात कही गयी है। साधना कीजिए और जीवन में वैराग्य का मक्खन ले आइए। आप चाहें जो इस मक्खन को खा सकते हैं। लोग मक्खन खाते भी हैं। मक्खन खाना अर्थात् स्वादवृत्ति। **जो लोग समस्त साधनों का फल अपनी मनोकामना की पूर्ति के रूप में देखते हैं, यह स्वादवृत्ति है।** पर इस मक्खन से जो दीपक प्रज्वलित करना चाहते हैं, उन्हें इसे खाने के स्थान पर घी के रूप

में परिवर्तित करना होगा। घी बनाने का क्या उपाय है? यह बताते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि–

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥७/११७ (क)

नवनीत को भी अग्नि पर रखकर पकाने की आवश्यकता है और वह परिपक्व होने के बाद घी बन गया, इसकी एक कसौटी है। इसे घी बनानेवाले सब लोग जानते हैं।

मक्खन को आग में पकाते समय एक आवाज होती है–चिड़चिड़ाहट की। और धीरे-धीरे जब यह आवाज बन्द हो जाती है तो समझ लिया जाता है कि घी बन गया है। इन्द्रियदमन करनेवालों की परिपक्वता के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

बहुधा यह देखा जाता है कि जो त्यागी और इन्द्रियदमन वाले होते हैं वे चिड़चिड़े बहुत होते हैं। पर जब उनका यह चिड़चिड़ापन बन्द हो जाय तो समझ लीजिए कि ये भक्त हो गये हैं।

भगवान् राम कहते हैं कि जो साधक इन्द्रियदमन की साधना से भक्ति पाना चाहता है, तो फिर उसमें शील का होना अनिवार्य है। भगवान् राम और उनके भक्तों में यह गुण दिखाई देता है। हनुमान्‌जी में इन्द्रियदमन की पराकाष्ठा है, और उनमें शील भी उतना ही है। भरतजी परम शीलवान् हैं। छठी भक्ति के ये दो महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं–बाहर से इन्द्रिय दमन और भीतर से शील।

त्याग करनेवाले बहुधा यही बताते रहते हैं कि उन्होंने क्या-क्या छोड़ दिया। 'मानस' में यह बताते हुए कि 'त्याग कैसा होना चाहिए?' कहा गया है कि–

रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥२/३२३/८

'भगवान् के भक्त भोग-विलास को वमन की भाँति जानकर उन्हें छोड़ देते हैं।' गोस्वामीजी इस पंक्ति के द्वारा बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं।

व्यक्ति चाहे अपनी दृष्टि से अच्छी से अच्छी वस्तु खा ले, पर यदि उसमें कोई दोष रह गया हो तो खाने के बाद वमन (उल्टी) हो जायगा।

अब ऐसी स्थिति में क्या जो व्यक्ति आपके पास आएगा उसे आप यह दिखाएँगे कि देखो! देखो! मैंने कितनी अच्छी-अच्छी चीजें खाई थीं? वस्तुतः अपना वमन न कोई स्वयं देखना चाहता है और न किसी और को ही दिखाना चाहता है। इसी तरह **सच्चा त्यागी वही है जो न अपना त्याग स्वयं देखता है और न ही दिखाता है।** यही शील तत्त्व का परिचायक है। इस शीलतत्त्व की समग्रता भरतजी के चरित्र में दिखाई देती है। गोस्वामीजी भगवान् राम के शील के लिये कहते हैं कि–

तुलसी राम-सनेह सील लखि जो न भगति उर आई।
तौ तेहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई॥
(विनयपत्रिका १६४/७)

उनके शील को देखकर भक्ति का उदय न हो तो सबद्रष्टा ही है। शील के सम्बन्ध में एक बड़ी मधुर गाथा आती है।

हिरण्यकशिपु की मृत्यु के बाद प्रह्लाद दैत्यों के राजा के रूप में सिंहासन पर आसीन हुए। यद्यपि उनका जन्म दैत्य कुल में हुआ था पर देवताओं के सारे सद्‌गुण, ऐश्वर्य आदि सब सिमटकर प्रह्लादजी के पास आ गये थे। स्वर्ग में कुछ बचा ही नहीं था। इन्द्र ने भगवान् से कहा–"महाराज! यह क्या अनर्थ हुआ? आपने हिरण्यकशिपु का वध तो कर दिया, पर स्वर्ग की सारी वस्तुएँ तो उसके पुत्र प्रह्लाद के पास ही रह गयीं।"

भगवान् ने कहा–"तो क्या तुम समझते हो कि हम प्रह्लाद से लड़ेंगे और सब छीनकर तुम्हें दिला देंगे? वस्तुतः प्रह्लाद से लड़कर न तो तुम जीत सकते हो और न ही मैं जीत सकता हूँ। अतः तुम याचक ब्राह्मण बनकर उसके पास जाओ और जो वस्तुएँ तुम्हारे पास नहीं हैं, उनकी उनसे याचना करो। वे सब तुम्हें दे देंगे।"

इन्द्र ब्राह्मण का वेष बनाकर गये और कहने लगे कि "मैं आपसे कुछ माँगने आया हूँ।" प्रह्लादजी ने कहा–"आप आज्ञा दीजिए।" इन्द्र ने स्वर्ग के सारे वैभव और समस्त सद्‌गुण उनसे माँग लिये। प्रह्लाद ने उन्हें सब प्रदान कर दिए। अन्त में इन्द्र ने कहा–"आप अपना शील भी मुझे दे दीजिए।" प्रह्लाद ने कहा–"बस यही वस्तु मैं आपको नहीं दे सकता।" इन्द्र ने कहा–"आपने तो कहा था, जो माँगोगे वह सब दूँगा!

सब कुछ तो आपने दे दिया पर शील क्यों नहीं दे रहे हैं?"

प्रह्लाद ने बहुत सुन्दर उत्तर दिया।

प्रह्लाद ने कहा—"मैं जानता हूँ कि आप ब्राह्मण भिक्षुक नहीं, इन्द्र हैं और इस वेष में आप स्वर्ग की अपनी सम्पदा व सद्गुण वापस पाने के लिये ही आए हुए हैं। यह जानने के बाद भी सब कुछ दे रहा हूँ, यह मेरा शील ही तो है। अब यदि मेरे पास शील नहीं रहेगा तो आपको मारकर आपसे सब कुछ वापस छीन लूँगा। इसलिये आप और कुछ माँग लीजिए, पर शील मत माँगिये।" शील ही तो भक्तों का प्रमुख गुण है। भगवान् राम इसीलिये कहते हैं कि—

छठ दम सील बिरति बहु कर्मा।

"मेरा भक्त इन्द्रियों को नियन्त्रित करनेवाला, शीलवान् तथा बहुत प्रकार के कर्म (बन्धनों) से मुक्त होता है।"

—"तो फिर क्या वह कोई कर्म नहीं करता?"

—"नहीं, नहीं, वह कर्म तो करता है पर—

निरत निरन्तर सज्जन धर्मा।

सन्तों ने जो धर्म बताए हैं उनके अनुरूप कर्म करता है। वह अपने समस्त कर्म ईश्वर को अर्पित कर अपने कर्म को धर्म के रूप में परिवर्तित कर देता है।" क्योंकि सन्तों के समस्त कर्म तो ईश्वर के लिये ही होते हैं। 'मानस' में कहा गया है कि—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना।

इस प्रकार प्रभु की छठी भक्ति में ज्ञान, वैराग्य, धर्म आदि के सभी सूत्र विद्यमान् हैं जो साधक के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

॥बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय॥ □

॥श्रीरामः शरणं मम॥

नवम प्रवचन

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥३/३५
मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा।
निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा।
सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना।
मम भरोस हियँ हरष न दीना॥
नव महुँ एकउ जिन्ह के होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥३/३५/१-७

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीरामभद्र एवं घनीभूत करुणा-वात्सल्य

स्वरूपा महाशक्ति श्रीजानकीजी की महती अनुकम्पा से भगवान् श्री लक्ष्मीनारायण के पवित्र प्रांगण में आयोजित यह नवदिवसीय मानस कथायज्ञ विश्राम की दिशा में बढ़ रहा है। सौभाग्यवती श्रीमती जयश्री मोहता ने अपने भावपूर्ण वक्तव्य में स्मरण दिलाया कि यह क्रम यहाँ विगत तीस वर्षों से प्रतिवर्ष सम्पन्न हो रहा है। पर इससे भी अधिक वर्षों से (लगभग पैंतालिस-छियालिस वर्षों से) मानस-कथाक्रम 'संगीत कला मन्दिर' कोलकाता में सम्पन्न होता आ रहा है, जिसका आयोजन भी बिरला दम्पत्ति के द्वारा ही होता है।

'बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एंड कल्चर' का यह आयोजन बिरला दम्पत्ति श्री बसन्तकुमार जी बिरला एवं सौजन्यमयी श्रीमती सरलाजी बिरला की श्रद्धाभावना और निष्ठा का परिचायक है। समाज में उनके द्वारा विविध रूपों में सेवाकार्य सम्पन्न होते रहते हैं। पर वे व्यक्तिगत रूप से भी मेरे प्रति अत्यन्त स्नेहयुक्त हैं और मेरा बहुत अधिक ध्यान रखते हैं। उनमें ऐसे अच्छे गुण हैं, ऐसी साधुवृत्ति है, यह उन पर भगवान् की अनुकम्पा है। उनके सामने ही मैं उनकी प्रशंसा करूँ तो यह उपयुक्त नहीं लगेगा–

मुख पर केहि विधि करौं बड़ाई।

प्रभुकृपा से इतने वर्षों से यह अनुष्ठान चल रहा है। अभी श्रीमती मोहता ने बताया कि यह अगले वर्ष भी है। प्रभुकृपा से यह आयोजन अगले वर्ष भी होगा, ऐसी आशा है। एक सज्जन ने मुझसे पूछा–"इस साल बीच में कुछ व्यवधान आता-सा प्रतीत हो रहा था! ऐसा क्यों?"

मैंने उनसे कहा–"जैसे बालक बहुत सुन्दर हो, तो उसे नजर लगने का डर होता है, उसी प्रकार से भगवान् को चिन्ता हो गयी होगी कि वर्ष की संख्या से कहीं इस आयोजन को नजर न लग जाय, इसलिये जरा सुरक्षा के लिये एक टीका लगा देते हैं!"

इस वर्ष जो थोड़े-से विघ्न आए, उसके सन्दर्भ में तो यही बात दुहराई जा सकती है (जो पहले दिन भी मैंने कही थी) कि हमें जिन दो रेखाओं के मध्य रहना है, वे हैं हरिकृपा और हरिइच्छा। इस वर्ष इन दोनों के मिले-जुले आनन्द का अनुभव हम लोगों ने किया। और अन्त में प्रभुकृपा से यह आयोजन भलीभाँति नवें दिन भी सम्पन्न होने जा रहा है।

भगवान् राम भक्तिमती शबरीजी के समक्ष नवधा भक्ति का उपदेश

संक्षेप में, सूत्र रूप में देते हैं। अनेक ग्रन्थों में भी ज्ञान, भक्ति और कर्म, वैराग्य आदि की व्याख्या 'सूत्रात्मक एवं विस्तृत' दोनों रूपों में की गयी है। इस दृष्टि में यदि हम एक-एक वाक्य में इन्हें व्यक्त करना चाहें तो यही कहा जा सकता है कि **'ज्ञान का अर्थ है भगवान् को जानना, भक्ति का अर्थ है भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करना और कर्म का तात्पर्य है उनके आदेश का पालन करना।'** इन तीनों का त्रिवेणी तत्त्व के रूप में समन्वय-मिलन हो, यही जीवन की सार्थकता है।

कह सकते हैं कि बुद्धिपूर्वक किसी को स्वीकार करना ज्ञान है और हृदय से नाता जोड़कर, हृदय से स्वीकार करना भक्ति है। भगवान् राम जिस नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं उसका प्रारम्भ इसी सूत्र से होता है।

शबरीजी का जन्म, जाति की दृष्टि से अत्यन्त साधारण वर्ण में हुआ है। उनका नाम तक ज्ञात नहीं है। जिनके मीठे बेरों की इतनी चर्चा की जाती है, वे शबर जाति की एक कन्या हैं और इसीलिये उनका नाम 'शबरी' पड़ गया। भगवान् राम उनके पास स्वयं जाते हैं और उनसे अपना नाता जोड़ते हैं और उनसे सीताजी का पता पूछते हैं।

अरण्यकाण्ड में एक और भी नारी पात्र है, शूर्पणखा जो भगवान् राम के पास आती है और उनसे नाता जोड़ना चाहती है। गोस्वामीजी शूर्पणखा का परिचय देते हुए जिन शब्दों का चुनाव करते हैं वे बड़े सांकेतिक हैं। वे कहते हैं कि–

सूपनखा रावन कै बहिनी। ३/१६/३

शूर्पणखा रावण की बहिन है। वे लिख सकते थे कि वह विश्रवा मुनि की बेटी है, पर वे ऐसा नहीं कहते। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से जुड़ता है, पर गोस्वामीजी शूर्पणखा के हृदय की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि–

दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥३/१६/३

उसके हृदय की तुलना तो सर्पिणी से ही की जा सकती है।

भगवान् राम उस समय पंचवटी में निवास कर रहे थे। शूर्पणखा वहाँ जाती है–

पंचवटी सो गइ एक बारा।३/१६/४

पर गोस्वामीजी यह नहीं लिखते कि वह भगवान् राम को देखकर

अनुरक्त हो गयी, अपितु वे कहते हैं कि–

देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥३/१६/४

वह भगवान् राम और श्रीलक्ष्मणजी दोनों की सुन्दरता को देखकर व्याकुल हो जाती है।

किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण उसके गुण के कारण हो सकता है, अनुराग के कारण हो सकता है, पर शूर्पणखा के मन में जो व्याकुलता है उसके मूल में राग न होकर मात्र वासना ही है। आगे जो कुछ भी वह करती है, इससे यह बात सामने आ जाती है।

शूर्पणखा जब दोनों राजकुमारों के सौन्दर्य को देखती है तो सोचने लगती है कि 'ये दोनों तो बड़े सुन्दर हैं इसलिये यदि मैं भी सुन्दर नहीं दिखाई दूँगी तो ये मुझे स्वीकार नहीं करेंगे।' शूर्पणखा रूप बदलने की कला में निष्णात है। मायावी रावण की बहिन जो ठहरी! वह अपने आप को एक सुन्दरी के रूप में परिवर्तित करके उस स्थान पर जाती है जहाँ भगवान् राम और श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ बैठे हुए हैं।

शूर्पणखा भगवान् राम के पास जाकर उनकी और अपनी अद्वितीयता का वर्णन करते हुए उनसे विवाह का प्रस्ताव रखती है। प्रभु उसकी बात सुनते तो हैं पर उसकी ओर एक बार भी दृष्टि उठाकर नहीं देखते। अपितु वे सीताजी की ओर देखकर उसके प्रस्ताव का उत्तर देते हुए उसे लक्ष्मणजी के पास भेज देते हैं। इस सन्दर्भ में मुझे एक बात नहीं भूलती।

दो वर्ष पूर्व हॉलैण्ड से एक प्रतिनिधि मण्डल तुलसीदास और रामायण पर वृतचित्र बनाने के उद्देश्य से भारत आया था। उसमें दो महिलाएँ भी थीं। किसी ने मेरा नाम ले दिया होगा, इसलिये वे मुझसे मिलने आए थे। उनके साथ एक दुभाषिया भी था। उस दुभाषिए के माध्यम से उनमें से एक महिला ने शूर्पणखा-प्रसंग में प्रश्न करते हुए कहा कि 'शूर्पणखा ने भगवान् राम के सामने यदि विवाह-प्रस्ताव रखा तो इसमें अनुचित क्या था? यदि कोई किसी के प्रति आकृष्ट हो जाय और विवाह कर उसे पाना चाहे, तो इसमें दोष क्या है?'

उन्हें इस बात को लेकर भी बड़ा असन्तोष था कि भगवान् राम ने उससे विवाह करने के स्थान पर लक्ष्मणजी से उसके नाक-कान कटवा दिए। भगवान् राम का यह कार्य उन्हें सबसे बुरा लगता था और इसे

वे, श्रीराम की नारी जाति के प्रति उपेक्षा और अपमान के भाव के रूप में देखती थीं। मैं उनकी भाषा नहीं जानता था अतः मैंने उसे बेटी मन्दाकिनी के पास भेज दिया, जहाँ एक लम्बी चर्चा के बाद उन्हें सन्तोष हो गया।

इस घटना को उन्होंने नारी जाति के सम्मान-असम्मान से जोड़कर देखा। पर यह दृष्टि ठीक नहीं है। आज भी ऐसे कई लोग हैं जो कहते हैं कि गोस्वामीजी किसी वर्ग या जाति के विरोधी थे। पर गोस्वामीजी को किसी वर्ग या जाति के विरोधी के रूप में देखना उनके प्रति न्याय नहीं है। गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में इसे समझाने के लिये एक सूत्र देते हैं जो बड़ा उपयोगी है।

गोस्वामीजी वहाँ पर दो नारियों का वर्णन करते हैं। जिनमें से एक तो है **'भक्ति'** तथा दूसरी है **'माया'**। गोस्वामीजी ज्ञान और बैराग्य को पुरुष के रूप में तथा भक्ति और माया को नारी के रूप में देखते हैं। और मानो इसके द्वारा वे सब कुछ स्पष्ट कर देते हैं।

यदि रामायण का उद्देश्य भक्ति का प्रचार है तो इससे बढ़कर नारी का सम्मान और क्या होगा? गोस्वामीजी यह भी बताते हैं कि भक्ति तो ज्ञान-वैराग्य की अपेक्षा भी भगवान् को अधिक प्रिय है। वे यही कहते हैं कि–

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।
नारि बर्ग जानइ सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी।
माया खलु नर्तकी बिचारी॥७/११५/३,४

माया तो मानो नर्तकी है और भक्ति प्रभु को बड़ी प्रिय है।

इसका अर्थ है कि नारी के दो रूप हैं–एक मायिक तथा दूसरी भक्ति-सम्पन्न। गोस्वामीजी यदि नारी की निन्दा करते हैं तो उस रूप में जिसका प्रतिनिधित्व शूर्पणखा करती है। भक्तिरूपा नारी, शबरीजी की तो प्रभु वन्दना करते हैं, स्तुति करते हैं।

भगवान् राम चौदह वर्षों तक वन में रहे, इस अवधि में वे अनेक ऋषि-मुनियों से मिले, बड़े-बड़े वीर योद्धाओं से मिले। पर भगवान् राम को जिनकी याद सर्वदा बनी रही, ऐसे पात्र बस गिनती भर के हैं।

वापस लौटने पर जब उनके मित्र पूछते थे कि आप वन में जिन लोगों से मिले उनके बारे में हमें बताइए तो प्रभु बस दो-चार नाम ही बता पाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि–

मिलि मुनिवृंद फिरत दंडक बन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरीकी बरनत प्रीति सुहाई॥
(विनयपत्रिका, १६५/३)

प्रभु राम अगस्त्य, सुतीक्ष्ण, अत्रि आदि ऋषि-मुनियों का नाम एक बार भी नहीं लेते कि मैं इन सबसे मिला और इन सबने मेरी स्तुति की और मेरा बड़ा सम्मान किया। वे तो बार-बार गीध का नाम लेते हैं और शबरीजी का नाम लेते हैं। भगवान् राम की स्मृति में शबरीजी तो अमिट भाव से अंकित हैं।

भक्ति का अर्थ है भगवान् से अमिट सम्बन्ध की स्थापना। इसलिये परम्परागत गुरुदीक्षा में यह कहा गया है कि गुरु के द्वारा शिष्य का भगवान् से सम्बन्ध कराया जाता है। इसका सीधा-सा तात्पर्य है कि किसी को बुद्धि से जान लेने पर उसके प्रति आदर-सम्मान तो बढ़ेगा पर सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर उसके प्रति हृदय में प्रेम की उत्पत्ति होगी, अनुराग की वृद्धि होगी। इसलिये भक्ति में प्रेम की प्रधानता मानी जाती है।

शूर्पणखा का विवाह-प्रस्ताव प्रेमपूर्ण न होकर वासना से प्रेरित होकर किया गया था। भगवान् से सम्बन्ध तो प्रेम से जुड़ता है। भगवान् राम ने उसकी वासना को प्रकट करने के लिये ही उसे लक्ष्मणजी के पास भेज दिया। शूर्पणखा तुरन्त लक्ष्मणजी के पास चली गयी। और उनसे कहने लगी–"तुम्हारे भाई मुझसे इसलिये विवाह नहीं करना चाहते क्योंकि उनका विवाह हो चुका है, अतः न हो तो तुम ही मुझसे विवाह कर लो।"

लक्ष्मणजी ने शूर्पणखा को सम्बोधित करते हुए जो पहला वाक्य कहा उसे सुनकर शूर्पणखा को कुछ सन्तोष हुआ। लक्ष्मणजी बोले–"**सुन्दरि सुनु!** सुन्दरी सुनो।" शूर्पणखा को लगा कि बड़ा भाई तो बड़े रूखे स्वभाव का है, पर छोटा भाई कुछ रसिक लगता है। पर उसे इस बात से बड़ा आश्चर्य भी हुआ कि 'सुन्दरी कहने के बाद भी वह मेरी ओर देख क्यों नहीं रहा है?' क्योंकि लक्ष्मणजी शूर्पणखा की ओर न देखकर–

प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी।३/१६/१२

भगवान् राम की ओर देख रहे थे। इसके पीछे मानो लक्ष्मणजी का व्यंग्य यह था कि 'जब तक मैं नहीं देख रहा हूँ, तभी तक तुम सुन्दरी हो, पर जिस समय मैं देख लूँगा, तुम्हारी कुरूपता सामने आ जाएगी।'

इसका अर्थ है कि भगवान् से नाता जोड़ने के लिये नकली सुन्दरता लेकर उनके सामने आने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वे उसके नाते से नाता स्वीकार नहीं करते। दूसरी ओर भगवान् राम स्वयं शबरीजी के पास जाते हैं और उनसे नाता जोड़ना चाहते हैं।

शूर्पणखा भगवान् से नाता जोड़ने आई और अपने लिये वह जो शब्द सुनना चाहती थी, भगवान् राम उन शब्दों का प्रयोग शबरीजी के प्रति करते हैं। कई लोग उन शब्दों को पढ़कर आश्चर्य व्यक्त करते हुए प्रश्न करते हैं कि 'साहित्य की दृष्टि से शबरीजी के लिये ये शब्द उपयुक्त हैं क्या?' भगवान् राम शबरीजी से सीताजी का पता पूछते हुए यही कहते हैं कि–

जनकसुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कहु करिबर गामिनी॥३/३५/१०

प्राचीनकाल में 'गजगामिनी' शब्द एक सुन्दरी स्त्री के सौन्दर्य की प्रशंसा में बहुत अधिक प्रचलित रहा है।

'एक वृद्धा स्त्री को गजगामिनी कहना और शूर्पणखा की ओर आँख उठाकर न देखना' इसके द्वारा मानो प्रभु यह बताना चाहते हैं कि 'बहिरंग सुन्दरता, सत्ता या कोई विशेषता मुझको आकृष्ट नहीं कर सकती। क्योंकि इन सबसे मैं निरपेक्ष हूँ।'

सचमुच ब्रह्म को किसी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण है। सम्बन्ध के द्वारा तो हम एक-दूसरे की कमी को दूर करने का ही यत्न करते हैं। इस दृष्टि से ब्रह्म को जीव से सम्बन्ध स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ब्रह्म से सम्बन्ध हो, यह तो जीव की आवश्यकता है। पर भगवान् राम तो सम्बन्ध स्थापित करने के लिये व्यग्र दिखाई देते हैं। रामायण का यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वेदान्त का ब्रह्म निर्गुण है, पूर्ण है, निरपेक्ष है और सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं है जिसे पाने या जिससे मिलने की उसे इच्छा हो। पर 'मानस' में भगवान् राम तो सम्बन्ध जोड़ते हुए दिखाई देते हैं।

वे शबरीजी से तो नाते की बात कहते ही हैं, विभीषणजी से भी यही बात कहते हैं।

विभीषणजी जब भगवान् राम की शरण में आए तो भगवान् राम ने उनका स्वागत, उन्हें लंकेश कहकर किया। इस सम्बोधन को सुनकर विभीषणजी कुछ संकोच में पड़ गये—'लंका का राजा तो रावण है!' भगवान् मुझे लंकेश क्यों कह रहे हैं? लगता है उन्होंने मेरे मन की बात जान ली है। प्रभु तो अन्तर्यामी हैं।'

बहुत से लोग भगवान् को अन्तर्यामी मानते हैं। यह भ्रम पाले रहना अच्छा है कि वे सब बातें जान लेते हैं जो हमारे मन में उठती रहती हैं। इन अर्थों में वे सचमुच अन्तर्यामी बनें, तब तो उन्हें पागल हो जाना पड़ेगा। हम लोगों के मन में जो उल्टी-सीधी बातें आती रहती हैं, हमारी जो मनोदशा रहती है, यदि ईश्वर उसे दिनभर देखता रहे, तो उसकी क्या स्थिति होगी, यह कहना कठिन है। इस सन्दर्भ में मुझे उड़िया बाबा की एक बात याद आती है।

वृन्दावन धाम में मुझे उड़िया बाबा के चरणों में रहने का सौभाग्य मिला। वहाँ रहते बाबा से एक अनोखा संस्मरण सुनने को मिला। गोहाटी में कामाख्या मन्दिर है जिसे देवी का सिद्ध स्थान माना जाता है। उड़िया बाबा प्रारम्भ में वहाँ साधना करने के लिये गये। कुछ दिनों तक साधना करने के बाद उनमें एक ऐसी सिद्धि आ गयी कि 'सामने वाला व्यक्ति क्या सोच रहा है, और क्या करके आ रहा है' उनको यह बात ज्ञात हो जाती थी। दो-चार व्यक्तियों से उन्होंने उनके मन की बातें बता दीं।

लोगों को लगा कि 'ये तो बहुत बड़े महात्मा हैं, मन की बात जान लेते हैं।' लोग उनके पास आने लगे। चारों तरफ उनकी धूम मच गयी। लोगों की भीड़ बढ़ने लगी। वे सोचने लगे कि 'दिन रात बैठकर मैं क्या यही देखता रहूँ कि कौन क्या सोच रहा है, कौन क्या करके आ रहा है? वे इससे इतने दुःखी हो गये कि उन्होंने देवी से इस सिद्धि को वापस लेने की प्रार्थना की और जब सिद्धि वापस चली गयी तो उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। इस प्रकार अन्तर्यामी होना बहुत सुखद नहीं है।

ईश्वर को अन्तर्यामी मानकर व्यक्ति यदि इस डर से कि 'ईश्वर सब कुछ जान लेता है अतः हमें न तो गलत सोचना चाहिए और न ही

कुछ गलत काम करना चाहिए' तब तो यह ठीक है। क्योंकि इस प्रकार ईश्वर को अन्तर्यामी मानकर व्यक्ति बुरे कार्यों व उनके चिन्तन से बच सकता है।

'मानस' में कहा गया है कि ईश्वर सर्वव्यापी तो है पर अन्तर्यामी न होकर निरपेक्ष है—

अग जग मय सब रहित बिरागी।

'वह विरागी है, कूटस्थ है, एक द्रष्टा मात्र है। वह कोई हस्तक्षेप नहीं करता।' यह बात कुछ विचित्र-सी लगती है। वे सब बुरी बातें होते हुए तटस्थ भाव से देखते रहते हैं और फिर चित्रगुप्त से लिखवाकर उसका दण्ड दिलवाते हैं! पुलिसवालों के विषय में भी व्यंग्य करते हुए यही कहा जाता है कि जब कोई घटना हो जाती है तब वे आते हैं (कृपया पुलिसवाले इसे अन्यथा न लें!) भगवान् की भी क्या यही पद्धति है कि 'वे व्यक्ति को पहले बुराई करने देते हैं, फिर बाद में खबर लेते हैं?' पर भगवान् ने जब विभीषण को 'लंकेश' कहा तो विभीषणजी को लगा कि प्रभु मेरी वासना को जान गये हैं।

विभीषणजी लंका से चलते समय राज्य की वासना लेकर नहीं चले थे। पर मार्ग में वे सोचने लगे—'प्रभु मुझे शरण में लेंगे या नहीं?' प्रभु ने सुग्रीव को तो अपनाया था। वह भी अपने बड़े भाई के द्वारा प्रताड़ित किया गया था। प्रभु ने बालि का वध करने के बाद किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को दे दिया था। इस प्रकार रावण का वध करने के पश्चात् लंका का राज्य मुझे ही मिलेगा।' इसलिये जब मिलते ही प्रभु ने उन्हें लंकेश कह दिया तो उन्हें लगा कि शास्त्र भगवान् को अन्तर्यामी कहते हैं, ये तो सचमुच जान गये!' वे संकोच में गड़ गये।

भगवान् राम ने विभीषण का संकोच दूर करते हुए कहा—''विभीषण! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे मन में कोई कामना या वासना नहीं है। तुम तो लंका के प्रधानमन्त्री के रूप में राज्य कर रहे थे। तुम तो राज्य छोड़कर आए हो, राज्य लेने नहीं। इच्छा तुम्हारे भीतर नहीं, मेरे भीतर है।'' भगवान् राम ने भक्तों के लिये बड़ी सुन्दर बात कही।

भगवान् राम ने कहा—''विभीषण! निर्गुण-निराकार ब्रह्म के रूप में मैं चाहे जितना निरपेक्ष रहता हूँ, पर सगुण-साकार के रूप में मुझे भी

लोभ हो जाता है।" प्रभु एक काव्यमयी भाषा में बड़ी मीठी बात कहते हैं। वे कहते हैं—"विभीषण!

समदरसी इच्छा कछु नाहीं।
हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे॥५/४७/६,७

लोभी तुम नहीं, मैं हूँ। तुम जैसे सज्जन को अपने हृदय में पाकर मुझे लगता है कि मैं धनवान् हो गया हूँ।"

आज रामनवमी है। आज भगवान् का जन्मदिन है। इस दिन तो कितने नाते बन गये। कौसल्या माँ बन गयीं। सभी अयोध्यावासियों से नाता जुड़ गया। मानो अवतार की लीला तो नाता जोड़ने की लीला है। भगवान् बताना चाहते हैं कि भक्तों को जितनी मेरी आवश्यकता है, उससे अधिक उनकी मुझे आवश्यकता है। मैं इसीलिये तो अवतार लेता हूँ।

शबरीजी तो अपने आपको किसी भी प्रकार से भगवान् से जुड़ने लायक नहीं पातीं। वे तो कहती हैं कि—

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी।
अधम जाति मैं जड़मति भारी॥
अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥३/३४/३,४

"प्रभु! मैं क्या कहूँ? मैं तो यह भी नहीं जानती कि आपकी स्तुति किस प्रकार की जाती है।" भगवान् राम कहते हैं—"शबरी! तुम बिल्कुल चिन्ता मत करो, क्योंकि नाता जोड़ने के लिये तो मैं निकला हुआ हूँ।" हनुमान्जी से भी प्रभु अपने चरित्रगाथा में नातों की ही बात कहते हैं।

हनुमान्जी से प्रभु की भेंट हुई तो हनुमान्जी ने उनसे पूछा—"आप कौन हैं? अपना परिचय देने की कृपा करें।" भगवान् राम ने कहा—"मैं दशरथ का पुत्र हूँ। मेरे साथ लक्ष्मण हैं और मैं इनका बड़ा भाई हूँ। मेरे साथ मेरी पत्नी भी वन में आई हुई थी, पर उसका हरण हो गया है, उसे ही मैं ढूँढ रहा हूँ।"

हनुमान्जी ने प्रभु की बात सुनने के बाद कहा—"महाराज! आप मेरे साथ पर्वत पर चलिए जहाँ सुग्रीव से मैं आपकी मित्रता करा दूँगा।"

मानो हनुमान्जी का तात्पर्य था कि इतने नाते आपने गिना दिए पर उसमें मित्र का उल्लेख आपने नहीं किया, तो चलिए इस कमी को मैं पूरा कर दूँगा और सुग्रीव के रूप में आपको एक मित्र मिल जाएगा। भगवान् उनके साथ तुरन्त चल पड़े।

हनुमान्जी ने एक और बड़ी मीठी बात कही। बोले—"महाराज! भक्ति के पाँच नाते होते हैं—वात्सल्य, सख्य, शृंगार, शान्त और दास्य। आपने तीन नाते ही बताए! बाकी क्यों छोड़ दिए?" प्रभु ने मुस्कराते हुए कहा—"अभी तो तुमने कहा है कि सुग्रीव को मैं मित्र बना लूँ! अब यदि मैं उन्हें मित्र बना लूँगा तो इससे चार नाते तो पूरे हो जाएँगे न?"

हनुमान्जी ने कहा—"महाराज! सुग्रीवजी को मित्र बनाने से चारों नहीं, पाँचों नाते पूरे हो जाएँगे, इसलिये आप उन्हें मित्र अवश्य बना लें!" प्रभु ने पूछा—"उनको मित्र बना लेने से पाँचवाँ नाता कैसा पूरा होगा?"

हनुमान्जी बोले—"महाराज! वस्तुतः सुग्रीवजी आपके दास हैं—

सो सुग्रीव दास तव अहई।
तेहि सन नाथ मयत्री कीजै।४/३/२,३

और जब आप दास को मित्र बना लेंगे, तो दास का जो स्थान खाली होगा, उसे मुझे दे दीजिएगा। इस प्रकार सारे सम्बन्ध पूरे हो जाएँगे।"

भगवान् राम ने शबरीजी से कहा कि 'शबरी! यह तुमने क्या कह दिया कि तुम स्त्री हो, हीन हो! संसार में लोग सम्बन्ध जोड़ने के लिये भले ही—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥३/३४/५

इन सबको देखते हैं पर मैं तो जाति, धन, बल, गुण आदि के नाते से नहीं, अपितु—

मानउँ एक भगति कर नाता।३/३४/५

एक भक्ति के माध्यम से ही नाता जोड़ता हूँ।'

भगवान् नौ प्रकार की भक्तियाँ बताते हैं। इसका अर्थ है कि व्यक्ति में जिस प्रकार की भी वृत्ति है, उसके अनुरूप इन नौ में से किसी भी भक्ति के द्वारा वह भगवान् से नाता जोड़ सकता है।

गोस्वामीजी भगवान् से नातों को लेकर एक बड़ी बढ़िया बात कहते हैं। 'विनयपत्रिका' के एक पद में वे—

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मातु, गुरु-सखा, तू सब विधि हितु मेरो॥
(विनयपत्रिका ७९/३)

यह कहकर अनेकानेक नाते गिनाते चले गये। प्रभु ने मुस्कराकर पूछा–"तुमने तो बड़ी लम्बी सूची रख दी! बताओ, इनमें से तुम कौन-सा नाता जोड़ना चाहते हो?" गोस्वामीजी बड़ा भाव-भरा उत्तर देते हुए कहते हैं–"महाराज!

तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।

नाते मैंने गिना दिए, अब चुनना आपको है। आपको जो नाता अच्छा लगे, वह नाता चुन लीजिए।"

–"मुझे चुनने के लिये क्यों कह रहे हो?"

–"इसलिये प्रभु! कि अगर मैं नाता चुनूँगा तो क्या ठिकाना कि उसे निभा पाऊँगा भी या नहीं? न जाने कब तोड़ बैठूँ? पर यदि नाता आप चुनेंगे, तो उसे निभाना भी आपको ही पड़ेगा।" भगवान् की यही करुणा है कि वे जीव पर कृपा करते हैं और उससे स्वयं ही नाता जोड़ लेते हैं।

भगवान् शबरीजी से जो बात कहते हैं, ठीक उसी तरह से विभीषणजी से भी यही कहते हैं कि–

जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बांध बरि डोरी॥५/४७/५,६

'संसार की इन वस्तुओं में जो ममता बिखरी हुई है उसे एकत्रित कर मेरे चरणों में लगा दो।' मानो ईश्वर के चरणों की भक्ति ही उससे नाता जोड़ने का मूल सूत्र है। जनकपुरवासिनी स्त्रियाँ इस बात को जानती हैं। इसलिये वे चाहती हैं कि सीताजी से भगवान् राम का विवाह हो जाय तो–

सखि हमरें आरति अति तातें।
कबहुँक ए आवहिं एहि नातें॥१/२२१/८

इस नाते से वे यहाँ आएँगे और उनका लाभ हम सबको मिलेगा। और जब विवाह हो जाता है तो वे सखियाँ बड़ी प्रसन्नता से आपस में वार्तालाप करते हुए यही कहती हैं कि–

बारहिं बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय।
लेन आइहहिं बंधु दोउ कोटि काम कमनीय॥१/३१०

जनकजी सीताजी को स्नेहवश बार-बार बुलाएँगे तो दोनों भाई उन्हें लेने आएँगे।

किसी ने कहा–"ऐसा कोई नियम तो नहीं है कि जिसमें बँधकर ये ही आएँगे कोई और भी तो लेने के लिये आ सकता है!" उस सखी ने मीठे व्यंग्य से कहा कि विवाह हुए बिना भी जब दोनों आ गये तो विवाह के बाद क्यों नहीं आएँगे? अवश्य आएँगे!" इसका अर्थ है कि श्रीसीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं और भगवान् भक्ति के नाते को ही तो मानते हैं। इसलिये वे भक्ति के नाते से जनकपुर आते ही रहेंगे।

भगवान् राम और हनुमान्जी का जब मिलन हुआ तो प्रारम्भ में जो वार्तालाप हुआ उससे हनुमान्जी को ऐसा लगा कि 'प्रभु उनको भूल गये हैं' और वे इस बात से बहुत दुःखी हो गये। भगवान् ने उनकी यह अवस्था देखी तो उन्हें हृदय से लगा लिया और बोले–

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥४/२/७

"हनुमान् तुम तो मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो।"

प्रभु के इस वाक्य को सुनकर थोड़ा आश्चर्य होता है। प्रभु लक्ष्मणजी के सामने ही ऐसी बात कैसे कह रहे हैं? लक्ष्मणजी घर-परिवार, राज, सम्पदा सब कुछ छोड़कर उनकी सेवा में हैं और अभी दो मिनट पूर्व जो व्यक्ति परिचित हुआ है, वह उनसे दूना हो गया? दूसरा कोई व्यक्ति होता तो तुरन्त कह देता कि 'अब आपको दूना मिल गया, अतः मेरा महत्त्व तो रहा नहीं, मैं चला।' पर लक्ष्मणजी भगवान् राम की बात को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे सोचने लगे–'प्रभु नाते के लिये ही तो आए हुए हैं, चलो! एक ऐसा बढ़िया व्यक्ति तो मिला!'

हनुमान्जी ने प्रभु की ओर देखा। उनकी दृष्टि में एक जिज्ञासा थी–'प्रभु! आपके विषय में शास्त्रों में यही कहा है कि ब्रह्म समदर्शी होता है, पाप-पुण्य में भेद नहीं करता, पर आज तो आपकी बात से लगता है कि आपकी दृष्टि में समत्व न होकर दूना-चौगुना भी होता है।'

भगवान् राम ने कहा–'हनुमान्! मैं वह ब्रह्म नहीं हूँ जो सम होता है।

समदरसी मोहि कह सब कोऊ।

लेकिन—

सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥४/२/८

मैं स्पष्ट रूप से बता देना चाहता हूँ कि जब मैं अवतार लेता हूँ तो समदर्शी नहीं होता। मुझे तो अनन्य गति वाला सेवक अत्यन्त प्रिय होता है।'

सत्य तो यह है कि उससे हमारा नाता बड़ा पुराना है पर हम उस पुराने नाते को भूल गये हैं। हमें सत्संग में, कथा में स्मरण दिलाया जाता है कि एक ऐसा भी है जो तुम्हारा शाश्वत रूप से सम्बन्धी है। इससे सम्बन्ध जोड़ने के लिये केवल भक्ति की ही आवश्यकता है। भगवान् राम शबरीजी को उपदेश देते हुए यही बताना चाहते हैं कि 'मुझे पाना अत्यन्त सरल है। तुम नाता जोड़ना चाहते हो तो इनमें से जो तुम्हें अपने अनुरूप लगता है उसी के द्वारा मैं नाता स्वीकार कर लूँगा।'

रामनवमी भगवान् से नाता जोड़ने का बहुत बढ़िया दिन है। इस दिन भगवान् ने हमसे नाता जोड़ लिया और हमारे अपने बन गये। अपनत्व की वह अनुभूति ब्रह्म में नहीं है, पर भगवान् राम में विद्यमान् है।

चलिए! अच्छा हुआ आज हम सब लोग एक-दूसरे के नातेदार हो गये! नातेदार कैसे हो गये? हनुमान्‌जी ने जब विभीषणजी को 'भाई विभीषण' कहकर सम्बोधित किया तो किसी को आश्चर्य हुआ—विभीषणजी हनुमान्‌जी के भाई कैसे हुए? न दोनों का देश एक, न जाति एक? कहाँ लंका, कहाँ भारत? हनुमान्‌जी बन्दर हैं और विभीषणजी राक्षस हैं? पर गोस्वामीजी कहते हैं कि नाते का जो केन्द्र बिन्दु है वह इन बातों पर आश्रित न होकर, केवल एक भक्ति के नाते से है। इसीलिये—

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।५/७/४

और 'इस नाते के मूल में कौन हैं?' यह बताते हुए हनुमान्‌जी कहते हैं कि—'भाई विभीषण!

देखी चहउँ जानकी माता॥५/७/४

मेरी माता श्रीसीताजी हैं और तुम्हारी माँ भी श्रीसीताजी हैं, इसलिये हम-तुम तो असली भाई हैं।' संसार के तो सब नाते नकली सिद्ध हो जाते हैं, असली नाता तो केवल भक्ति के नाते से ही जुड़ता है। हम लोग भी

भक्ति के नाते से एक-दूसरे के भाई हैं, नातेदार हैं, सम्बन्धी हैं। 'मानस' में कहा गया है कि—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें।
सब मानिअहिं राम के नातें॥२/७३/७

यह नाता भौतिक न होकर भक्ति का नाता है, प्रेम का नाता है जिससे हम सब जुड़े हुए हैं।

नवधाभक्ति की व्याख्या तो अनन्त है। उसे शब्दों में पूरा करना तो सम्भव ही नहीं है। यत्किंचित् शब्दों में कुछ बातें कही गयीं। श्रीमती जयश्री मोहता ने यातायात की जो समस्या थी, उसका स्मरण दिलाया। पर समस्याओं के रहते हुए भी आप सब यहाँ आए और एक ऐसी कथा को सुनने के लिये एकत्रित हुए जिसमें कोई बहिरंग आकर्षण या मनोरंजन नहीं होता। यह तो आपकी श्रद्धा-भावना ही है कि आप आए। सबको मेरी मंगलकामना और धन्यवाद!

आज पहली बार मैंने जयश्रीजी को सुना। बहुत सुन्दर और बड़े ही संयत भाव से उन्होंने अपनी बात प्रस्तुत की। मैं उनके प्रति मंगलकामना करता हूँ। मैं बिरला दम्पति श्रीबसन्तकुमारजी बिरला तथा सौजन्यमयी सरलाजी बिरला को पुनः धन्यवाद देता हूँ। अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी मेरा कितना ध्यान रखते हैं। उनके द्वारा समाज के लिये और भी बहुत से कार्य निरन्तर सम्पन्न होते रहते हैं। वे हर दृष्टि से उन्नत हों तथा उनके ऊपर निरन्तर प्रभु की कृपा बनी रहे, यही मेरी मंगलकामना है।

आप सब लोग जिनमें कुछ जाने हैं, कुछ अनजाने हैं, कुछ दूसरे शहरों से, दूर-दूर से आते हैं, सबके प्रति नमन करता हुआ, आप सबको धन्यवाद करता हूँ और मंगलकामना करता हूँ। और अन्त में प्रभु से यह प्रार्थना करता हूँ कि वे हम सबको अपने भक्तिरस के नाते से जोड़कर, उस नाते की हम सबको अनुभूति कराने की कृपा करें।

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल।
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल॥

॥बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय॥

□